मध्यकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ

तथा

नव निबंध

परशुराम चतुर्वेदी

लोक सेवक प्रकाशन
बनारस

प्रथम संस्करण : १९५५ ई०

मूल्य ३)

मुद्रक :— राम आसरे कक्कड़

हिन्दी साहित्य प्रेस; इलाहाबाद

स्वर्गीया प्रथम पत्नी को

विषय सूची

मध्यकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ

प्रस्तावना

हिंदी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि शृंगारी कविताओं की रचना, उसके आदिकाल से ही, होती आ रही है। इस प्रवृत्ति को संभवतः अपभ्रंश-साहित्य से सर्वप्रथम प्रेरणा मिली थी और संस्कृत एवं प्राकृत के साहित्यों का भी इस पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। तब से हिंदी की ऐसी कविताएँ निरंतर लिखी जाती रहीं और उन पर अपने-अपने युगों की छाप भी पड़ती रही। किंतु फिर भी उनके क्रमिक विकास का कोई सांगोपांग वर्णन, कदाचित्, आज तक भी नहीं किया जा सका है। वास्तव में हमारे इतिहासकारों ने 'शृंगार' शब्द का अर्थ ही कुछ संकुचित मान लिया और उन्होंने ऐसी रचनाओं की चर्चा या तो काव्यकला के विचार से की अथवा इनमें आचार्यत्व ढूँढ़ने लग गए। उन्होंने, सर्वप्रथम, इस बात की ही ओर ध्यान दिया कि कौन कवि कहाँ तक किसी विशिष्ट रस वा अलंकार को उदाहृत करने में सफल हुआ है अथवा कौन-से कवि ऐसे हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र के अन्य अंगों के स्पष्टीकरण में भी अपनी लेखनी उठाई है। केवल रीतिकालीन हिंदी कवियों की ही रचनाओं पर यदि विचार किया जाय तो ऐसा करना किसी प्रकार उचित भी कहा जा सकता है। परंतु ऐसे सभी कवियों की कृतियों पर ध्यान देते समय हमें इस प्रकार का अध्ययन अवश्य अधूरा प्रतीत होगा।

हिंदी के सभी शृंगारी कवियों ने अपनी रचनाएँ केवल काव्यकला प्रदर्शन के ही लिए नहीं लिखी थीं और न उन सभी का उद्देश्य कभी केवल काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन मात्र ही रहा। हिंदी साहित्य के इतिहास के रीतिकाल तक में भी अनेक ऐसे कवि मिलेंगे जो उसकी परम्पराओं का पूर्ण रूप से पालन करने के प्रति उदासीन थे। वे स्वतंत्र ढंग से भी लिखने का प्रयत्न करते थे। उदाहरण के लिए, शृंगारी मान

लेने पर भी, कम से कम घनआनन्द, बोधा अथवा ठाकुर जैसे प्रेमी व्यक्तियों के लिए तो ऐसा कहा ही जा सकता है। इसके सिवाय, यदि सभी शृंगारिक रचनाओं पर विचार किया जाय तो, यह भी पता चलेगा कि जिन लोगों ने काव्यकलादि की ही ओर ध्यान दिया है उन्होंने भी, कभी प्रसंगवश तथा कभी-कभी सिद्धांत रूप से भी, ऐसे विषयों की चर्चा कर दी है जिनका अपना पृथक् महत्त्व है। इन्होंने न केवल प्रेम एवं सौंदर्य जैसे विषय लिये हैं, अपितु कभी-कभी इन्होंने धर्म, दर्शन, नीति, सदाचार आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं और उनका विषय-निर्वाह ऐसे सुंदर ढंग से हुआ है जिस पर ध्यान देना कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक दो खंडों में विभाजित है। इसमें संगृहीत निबंधों का अधिकांश उपर्युक्त बातों को ही ध्यान में रख कर लिखा गया है। यह 'नव-निबंध' नामक मेरी पुस्तक का परिवर्द्धित नवीन संस्करण है जिसमें 'मध्यकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ' वाला अंश, प्रथम खंड के रूप में, जोड़ दिया गया है। इस अंश में भिन्न-भिन्न प्रमुख शृंगारिक प्रवृत्तियों का अध्ययन संक्षिप्त रूप में, किंतु तुलनात्मक ढंग से भी किया गया है। द्वितीय खंड 'नवनिबंध' है। इसके प्रथम तथा अंतिम निबंधों के अंतर्गत भी दो भिन्न-भिन्न प्रकार की तुलनात्मक आलोचनाएँ हैं। शेष का विषय अधिकतर हिंदी के कतिपय शृंगारी कवियों की विचारधारा एवं वर्णन-शैली से संबंध रखता है और इनका क्रम उन कवियों के काल-क्रमानुसार रखा गया है। ये निबंध भिन्न-भिन्न समय में लिखे गए थे, इस कारण, इनमें किसी प्रकार के पारस्परिक संबंध का कोई आधार नहीं। जिन कवियों की पृथक्-पृथक् चर्चा की गई है उनमें से अधिक ने शुद्ध शृंगारिक प्रेम एवं विरह का ही वर्णन किया है। परंतु कुछ का प्रेमभाव उस कोटि तक भी पहुँच जाता है जो आध्यात्मिक क्षेत्र के निकट है। इसके सिवाय भारतेंदुकालीन कवियों के देश-प्रेम को हम एक पृथक् श्रेणी में भी रख सकते हैं। इसी प्रकार विहारी लाल को हम सदा घोर शृंगारी कवि के

ही रूप में देखते आये हैं, किंतु इनमें से एक निबंध में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि वे, कुछ दृष्टियों से, 'अश्रृंगारी' भी कहला सकते हैं।

वर्ण्य विषयों की चर्चा करने के पहले, प्रायः सभी ऐसे निबंधों के आरंभ में, इन कवियों का इतिवृत्तात्मक परिचय दे देने का भी प्रयत्न किया गया है। परंतु इनके जीवनवृत्तों का प्रामाणिक एवं सविवरण उल्लेख नहीं मिलता और कुछ का जीवन-काल तक अभी संदिग्ध है। आज तक जो खोज हुई है उससे अभी बहुत-सी भ्रमात्मक बातों का निराकरण नहीं हो पाया है। फिर भी इनके साधारण परिचय की एक संक्षिप्त रूपरेखा अवश्य बन जाती है और इसी के लिए यहाँ कुछ प्रयास भी किया गया है। ये निबंध जब लिखे गये थे तब से बहुत सी नयी बातें ज्ञात हुई हैं, इस कारण, इनमें कई स्थलों पर आवश्यक संशोधन कर दिये गए हैं। फिर भी बहुत-सी ऐसी बातें रह जाती हैं जिनका पता पुस्तक के प्रथम संस्करण तक भी नहीं चल पाया था, किंतु जो, अंतिम निर्णय करते समय, महत्त्वपूर्ण बन सकती हैं। उदाहरण के लिए, इसके प्रथम संस्करण के समय तक विद्यापति की पदावली के केवल तीन ही प्रसिद्ध संस्करणों का पता था जिसके अनंतर सन् १९५२ में श्री वसंत-कुमार माथुर द्वारा संपादित होकर इसका एक संस्करण दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जिसमें २६१ पद संगृहीत हैं। इसी प्रकार सं० २०१० में इसका एक अन्य संस्करण पटना से भी निकला है जिसके सम्पादक श्री खगेन्द्र नाथ मित्र और श्री विमानविहारी मजुमदार हैं। इसमें ९३३ पद हैं जो पाठांतर, शब्दार्थ, अनुवाद, आदि के साथ प्रकाशित किये गए हैं और जिनके पहले एक बहुत बड़ी 'भूमिका' भी दी गई है। फिर अभी कुछ ही दिन हुए, सन् १९५४ ई० में, इसका एक और भी संस्करण छपा है जिसका सम्पादन डा० सुभद्र झा ने किया है। यह अँग्रेजी की भूमिका तथा अँग्रेजी के ही अनुवाद के भी साथ निकला है और इसके सम्पादक ने बड़ी छानबीन के साथ विद्यापति का समय सन् १३५२-१४४८ ई०

ठहराया है तथा पदावली की भाषा पर भी गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किया है। किंतु पदों की संख्या इसमें २६२ तक ही सीमित है। इसके सिवाय, किसी खोजी विद्वान् ने, अभी कुछ ही दिन हुए, हमें बतलाया है कि, इधर की उपलब्ध कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में, 'आलम' कवि का नाम 'शेख़ आलम' मिलता है जिसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि 'शेख़' शब्द वस्तुतः उसकी पत्नी का नाम न रहा होगा। घन आनन्द एवं ठाकुर कवि के संबंध में भी इधर बहुत कुछ काम हुआ है और अनेक नई बातों का पता चला है।

परंतु इस पुस्तक में संगृहीत निबंधों के अंतर्गत उपर्युक्त बातों की समीक्षा अभीष्ट नहीं है। इनमें विशेषतः कतिपय प्रमुख कवियों की रचनाओं में उनके विशिष्ट गुणों के दिग्दर्शन तथा अभिप्रशंसन की चेष्टा की गई है जिससे ये अधिकतर व्याख्यात्मक बन गए हैं। हिंदी के समस्त शृंगारी कवियों की रचनाओं को यदि कोरी कला की दृष्टि से ही न देखा जाय और उन पर गवेषणात्मक विचार किया जाय तो संभव है, उनमें हमें उनकी किन्हीं ऐसी देनों का भी पता चल सके जिनकी ओर हमारा ध्यान अभी तक नहीं जा सका है। इसके लिए हमें उनका अध्ययन सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिकता परक जैसे दृष्टिकोणों से भी करना पड़ सकता है। यहाँ पर यह कह देना भी कदाचित् असंगत न हो कि उन्हें केवल काव्यकला अथवा भाषा की ही दृष्टियों से देखना अपर्याप्त हो सकता है।

बलिया
वसंतोत्सव, सं० २०११

—परशुराम चतुर्वेदी

मध्यकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ

१

'शृङ्गार' शब्द का प्रयोग सामान्यतः अलंकरण, बनाव चुनाव, साज वा सजावट आदि के अर्थों में हुआ करता है।[1] किंतु साहित्य में इसका अभिप्राय केवल इतने तक ही सीमित नहीं समझा जाता और इस पर बहुत व्यापक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए 'साहित्य-दर्पण' कार ने कहा है कि इसके आदि में जुड़े हुए 'शृङ्ग' शब्द का अर्थ 'मन्मथोद्भेद' होता है।[2] मन्मथ कामदेव का एक नाम है जिस कारण कहा जा सकता है कि यह 'शृङ्ग' काम वासना की प्रवृत्ति का भी वाचक होगा और, 'उद्भेद' का अर्थ अंकुरित होना अथवा उद्रेक होने से 'मन्मथोद्भेद' का एक पर्याय कामोद्रेक भी मान लिया जाता है। इसके सिवाय यौगिक शब्द 'शृङ्गार' का क्रमशः 'शृङ्ग' एवं 'आर' जैसे दो अंशों द्वारा निर्मित होना भी बतलाया गया है और इसके 'आर' से अभिप्राय 'आगमन' वा 'प्राप्ति' का है। अतएव इस प्रकार भी 'शृङ्गार' शब्द से तात्पर्य कामवासना के उदय से हो जाता है जो वस्तुतः कामुकता वा यौन भाव की उच्छृंखल अभिव्यक्ति का भी द्योतक है। परंतु 'काम' शब्द का यहाँ इस प्रकार अर्थ करना उसके मौलिक भाव को संकुचित कर देना होगा जो कदाचित् 'साहित्यदर्पण'-कार का भी उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'काम सूत्र' जैसे ग्रंथों में भी

---

1. सोलह शृङ्गारों के नाम इस प्रकार हैं—१. शौच, २. उबटन, ३. स्नान, ४. केश-बन्धन, ५. अङ्गराग, ६. अंजन, ७. जावक (महावर), ८. दंत रंजन, ९. तांबूल, १०. वसन, ११. भूषण, १२. सुगंध, १३. पुष्पहार, १४. कुंकुम, १५. भालतिलक और १६. चिबुक बिंदु

2. 'शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदः'—(साहित्यदर्पण)

'काम' शब्द का सामान्य अर्थ "आत्मा से युक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं घ्राण का अपने अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना" ही बतलाया गया है।[१] "स्त्री पुरुष के पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित 'अभिमानिक' सुखों के विषय बोध" को वहाँ विशेष वा प्रधान काम ठहराया गया है[२] और वात्स्यायन ने इस दूसरे अर्थ में ही उससे 'सुख एवं प्रजोत्पत्ति' का होना माना है। इसका सामान्य अर्थ सदा उस मूल प्रवृत्ति द्वारा ही प्रकट होता है जो मानव मन में सर्वप्रथम उदित हुई होगी[३] और जिसे कभी-कभी हम 'कामना' की भी संज्ञा दे दिया करते हैं।[४]

फिर भी 'श्रृङ्ग' शब्द का वास्तविक अर्थ जिस प्रकार कोरी काम वासना नहीं उसी प्रकार वह शुद्ध कामना भी नहीं कहा जा सकता। पहला यदि अधिक सीमित है तो दूसरा भी, इसी प्रकार, अधिक व्यापक समझा जा सकता है। 'साहित्य दर्पण'कार ने जहाँ 'श्रृङ्ग' शब्द की व्याख्या 'मन्मथोद्भेद' के द्वारा की है वहाँ उन्होंने, श्रृङ्गार रस को उसके 'आगमन का हेतु' ठहराते हुए, उसे 'उत्तम प्रकृति' का होना भी बतलाया है। जैसे,

श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेद स्तदागमन हेतुकः।
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः श्रृङ्गार इष्यते ॥ (साहित्यदर्पण)

अर्थात् 'श्रृङ्ग' कामोद्रेक को कहते हैं और उसकी उत्पत्ति का कारण वह श्रृङ्गार रस अभीष्ट है जो 'उत्तम प्रकृति' का होता है। यहाँ पर कोरी

---

१. वात्स्यायन रचित 'कामसूत्र', अध्याय २, सूत्र ११

२. वही, अध्याय २, सूत्र १२

३. 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं तदासीत्'—ऋग्वेद

४. 'कांम कांम सबको कहै, कांम न चीन्है कोइ।
जेती मन में कांमनां, कांम कहीजै सोइ ॥३२॥
(कबीर ग्रंथावली) पृ० ४१ (पादटिप्पणी)

ऐन्द्रिय वासना की उपेक्षा की गई जान पड़ती है जिस कारण 'काम' का अर्थ भी काम वासना का न होकर उस 'स्नेह' का ही हो सकता है जिसका वर्णन उसके "स्त्रियों के प्रति पुरुषों द्वारा एवं पुरुषों के प्रति स्त्रियों द्वारा प्रकट किये जाने वाले" रूप में पाया जाता है। जैसे,

स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणांच पुरुषेषु वा।

परस्पर कृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते ॥—शार्ङ्गधर (१,६)

यहाँ 'काम' केवल शुद्ध कामना न होकर वह स्त्री एवं पुरुष के, एक के दूसरे के प्रति प्रकट किये गए, किसी विशिष्ट आसक्तिभाव की ओर इंगित करता है। अतएव, उस 'काम' को यदि हम पौराणिक पुरुष कामदेव के प्रतीक में देखें तो 'शृङ्गार' का प्रतीक बनाने के लिए हमें उसके साथ उसकी पत्नी रति की भी कल्पना करनी पड़ेगी और उन दोनों की युगल मूर्ति ठीक उसी प्रकार संश्लिष्ट दीख पड़ेगी जैसी राधाकृष्ण अथवा अर्द्धनारीश्वर शिव की होती है।

शृङ्गार रस का परिचय देते समय भी उसके स्थायीभाव का नाम 'रति' ही दिया जाता है और इसका अर्थ मनोनुकूल विषय में सुख प्राप्ति का बोध होना अथवा उसकी ओर मन का स्वतः प्रवृत्त होने लगना समझा जाता है (दे० 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्')। स्त्री एवं पुरुष का एक दूसरे की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक माना गया है जिस कारण उनके ऐसे पारस्परिक आकर्षण को मनोनुकूल अर्थ की ओर प्रवृत्त होना ही कहा जा सकता है। यद्यपि ऐसी रति का उन दोनों में से किसी की रमणेच्छा का पर्याय होना भी आवश्यक नहीं है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा पता चलता है कि 'रति' एक प्रकार की चित्तवृत्ति है जो काम की मूल प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करती है और जो अपनी विशेषता द्वारा उसे न्यूनाधिक विकृत भी कर देती है तथा जिसका मनोवेग स्त्री एवं पुरुष के एक दूसरे के साथ मिलनेच्छा में भी परिणत हो जाता है। ऐसी रति को किसी नैसर्गिक आत्मीयता द्वारा प्रेरणा मिलती है और इसमें एक के दूसरे के प्रति निवेदन वा समर्पण का भाव भी निहित

रहता है। रति के अंतर्गत आत्म-विस्तार के साथ-साथ आत्म-विस्मृति का भी भाव सामान्यतः जुड़ा रहता है। इन दोनों का प्रमुख लक्ष्य अनेकता की ओर से एकता की ओर ले जाना है जिस कारण इसके स्थायी रूप का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। स्थायी भाव के रूप में रति एक बहुत व्यापक मनोदशा है और तदनुसार इसकी गणना मानव स्वभाव के मौलिक अंगों में की जाती है। अनुकूल परिस्थिति में पड़कर इसका बीज रूप क्रमशः अंकुरित एवं पल्लवित होने लगता है और अवसर पाकर यह श्रृङ्गार रस के आनंदप्रद वृहत्काम वृक्ष में भी परिणत हो जाता है।

रति के स्थायीभाव को श्रृङ्गार रस की अवस्था तक पहुँचाने में सर्वप्रमुख कारण उसका 'विभाव' बनता है जो दो प्रकार का होता है। इनमें से एक को 'आलम्बन' विभाव तथा दूसरे को 'उद्दीपन' विभाव कहते हैं। पहले में नायक, नायिका एवं दूसरे में सखी, सखा, दूती एवं वातावरण का समावेश रहता है। नायक का रतिभाव नायिका पर अवलम्बित रहता है अथवा नायिका का नायक पर होता है इसलिए ये दोनों ही आलम्बन कहे जाते हैं। इन दोनों के ही रतिभाव के उद्दीप्त होने में विभिन्न उपादानों की सहायता मिलती है इसलिए उन्हें उद्दीपन कहा जाता है। इसी प्रकार साहित्य शास्त्र के पंडितों ने आलम्बन एवं उद्दीपन द्वारा जागृत एवं उद्दीप्त रतिभाव की समुचित पुष्टि एवं विकास के परिचायक समझे जाने वाले कतिपय अनुभावों तथा संचारी भावों के भी नाम लिये हैं जिनमें से प्रथम वर्ग वाले विभिन्न अनुभवों की सूचना देते हैं तथा दूसरे प्रकार के भावों द्वारा रतिभाव को रसत्व तक पहुँच पाने में, विविध रूपों का समर्थन मिलता है। अनुभावों में भी कुछ ऐसे होते हैं जो नायक वा नायिका के शरीरों में, अंगविकारों के रूप में आपसे आप दीख पड़ते हैं। उन्हें, इसी कारण, 'सात्विक' भी कहा जाता है, किंतु अन्य ऐसे भी होते हैं जिनके लिए किसी न किसी प्रकार की कायिक, मानसिक अथवा वेशभूषादि विषयक चेष्टाएँ भी अपेक्षित

रहती हैं। आचार्यों ने इनमें से सात्विक भावों की संख्या आठ तक सीमित कर इनके लक्षण एवं उदाहरण भी दे दिये हैं। उन्होंने श्रृङ्गार रस के संचारी भावों को भी गिनकर उनकी संख्या २९ अथवा ३० तक निश्चित कर दी है और उनका पृथक् पृथक् परिचय भी दे दिया है।

इस प्रकार के विश्लेषण, वर्गीकरण, नामकरण तथा परिचय-प्रदान की परम्परा भरत मुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' के समय से निरंतर चली आ रही है और इधर के आचार्यों ने भी इस कार्य में भाग लेकर इसके महत्त्व का पूरा समर्थन किया है। आदिकालीन पुरुषों एवं स्त्रियों की मनोदशा जैसी भी रही हो और अपने समय की परिस्थितियों के अनुसार वे जैसा भी आचरण करते रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि, वैदिक युग से लेकर आज तक के मानव समाज के रहन-सहन में क्रमशः बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। मानव-चेतना पहले जैसी विशुद्ध अथवा सरल नहीं रह गई है और न उसके संकेतानुसार कार्य करने की पद्धति में ही वैसी निर्बाध स्वच्छन्दता पायी जाती है। मानव-समाज ने अपने विकसित एवं व्यवस्थित रूप की सुरक्षा के उद्देश्य से, अनेक धार्मिक एवं नैतिक बंधनों की सृष्टि कर डाली है। भरत मुनि के आविर्भावकाल तक जो सामाजिक व्यवस्था भारतवर्ष में प्रचलित थी उसके अनुरूप उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की और, तत्कालीन रंगमंच की आवश्यकताओं तथा दर्शकों की मनोदशाओं के विचार से, उन्होंने विविध रसों का विवेचन कर कतिपय स्थापनाओं का उपक्रम भी किया। उनके मत को मूलतः विस्थापित करने की चेष्टा अभी आज तक नहीं की गई और इधर के आचार्यों ने उनके दृष्टिकोण के भरसक समर्थन की ही चेष्टा की है। भारत के बाहर की भी साहित्यिक परम्पराएँ अभी अपने प्राचीन आचार्यों की ही दुहाई देती जान पड़ती है और उनके साथ भी हमारा कोई मौलिक मतभेद नहीं है। फिर भी भरत मुनि के समय (ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास) से हमारे इतिहास के मध्यकाल (सं० १४०० से सं० १८५०) तक की अवधि में भारतीय

समाज की दशा में बहुत कुछ अंतर आ गया था जिसका परिणाम शृङ्गार रस के विवेचन में भी लक्षित होता है। जान पड़ता है कि इस विषय पर जो विचार सर्वप्रथम किया गया था वह अधिकतर उपलब्ध साहित्य के ही आधार पर था। इधर के आचार्यों ने फिर इस पर दार्शनिक दृष्टि से भी मनन करना उचित समझा जिस कारण पीछे इसे एक स्वतंत्र वैज्ञानिक रूप भी मिल गया।

वैदिक युग के अनंतर भारतीय समाज की प्रवृत्ति ऐहिक जीवन की ओर से हटकर आमुष्मिक की ओर बढ़ती जाने लगी थी और तदनुसार उसके द्वारा निर्मित साहित्य का रूप अधिकतर कर्मकांड एव ज्ञान कांड से ही संबंध रखता था। भक्ति-साधना की परम्परा के प्रचलित हो जाने पर उसमें भगवान् को अपने बीच लाकर उन्हें प्रतिष्ठित देखने की भी अभिलाषा उत्पन्न हुई। संयोगवश, उसकी ऐसी ही मनोदशा के बने रहते समय, इस देश में कुछ ऐसी जातियों का प्रवेश भी हो गया जिसने उसकी इस परिवर्तित प्रवृत्ति को बल प्रदान किया। ये जातियाँ आभीर आदि की थीं जिनकी रहन-सहन एवं संस्कृति में हमें ऐहिकता का भाव प्रचुर मात्रा में मिल गया। उनके सरल, स्वच्छंद एवं आमोद प्रमोदमय जीवन में एक विचित्र आकर्षण था और उनकी भाषा तथा लोकगीतादि में भी एक अल्हड़पन एवं मिठास थी जिनका भारतीय जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा तथा इसके अनुसार यहाँ की साहित्य-रचना-पद्धति में भी एक नये मोड़ का आना स्वाभाविक सा हो गया। ईस्वी सन् के प्रारंभ के आसपास से हमें जनसाधारण की भाषा में निर्मित ऐसे विविध प्रकार के लोक-काव्यों के उदाहरण मिलने लगते हैं जिनका ऐहिक जीवन के साथ प्रत्यक्ष संबंध है। कहते हैं कि विक्रम संवत् के प्रथम शतक तक प्राकृत में रचित प्रायः एक करोड़ ऐसी गाथाएँ मिलने लगी थीं जिनमें से सात सौ को चुनकर आंध्रदेश के सातवाहनवंशीय राजा हाल ने संगृहीत किया और जो पीछे 'गाथा सत्तसई' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस रचना के तात्कालीन समाज में लोकप्रिय होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण इस

बात में भी मिलता है कि उसके अनुकरण में काव्य-रचना प्रस्तुत करने की एक नवीन परम्परा ही चल निकली। प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी भाषाओं की कौन कहे पंडितों की संस्कृत भाषा (जो देववाणी भी कही जाती है) में भी ऐसी रचनाएँ अच्छी संख्या में दीख पड़ने लगीं।

हाल की उक्त 'गाथा सत्तसई' से उद्धृत किये गए जो उदाहरण इस समय उपलब्ध हैं, उनमें समाज के गार्हस्थ्य जीवन की बड़ी स्पष्ट एवं सरल अभिव्यक्ति है। उसमें न तो उतनी कृत्रिमता लक्षित होती है और न अतिरंजन का ही दोष दीख पड़ता है। उसके वर्ण्य विषय साधारण दैनिक व्यापारों से संबंध रखते हैं। उसमें मौन-संबंध का प्रकृत रूप अत्यंत सुंदर ढंग से चित्रित किया गया है तथा उसमें अंकित वातावरण भी हमारे लिए सर्वथा परिचित ही प्रतीत होता है। 'सत्तसई' के अनुकरण में जिन अनेक संस्कृत काव्य-ग्रंथों की रचना की गई, उनमें से सभी, इस प्रकार की विशेषता नहीं रखते जिसका प्रमुख कारण यह हो सकता है कि इनके रचना-काल तक हमारे सामाजिक वातावरण में बहुत कुछ परिवर्त्तन भी होने लगा था। गुप्त साम्राज्य की समृद्धिशालिता तथा उसके परवर्त्ती राजदर्बारों के वैभवाधारित जीवन के कारण क्रमशः नागरिकता की भावना का विकास होता जा रहा था और ऐसे युगों के अधिकांश कवियों का निकट संबंध भी प्रायः ऐसे ही वातावरणों के साथ जुड़ा रहता था। फलतः 'सत्तसई' के साथ अधिक सादृश्य रखने वाली संस्कृत की 'अमरु शतक' अथवा 'आर्यासप्तशती' जैसी रचनाओं में भी हमें उसका सहज गुण वैसी मात्रा में उपलब्ध नहीं है। 'शृङ्गार तिलक' 'शृङ्गार शतक', 'चौर पंचाशिका', आदि ऐसी रचनाओं की अतिशयोक्ति पूर्ण अलंकृत भाषा के कारण उक्त विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो गई हैं। किंतु यह रंग अपभ्रंश भाषा के मुक्तकों पर उतना नहीं चढ़ पाया जैसा, हेमचंद्रादि द्वारा संगृहीत फुटकल दोहों के उदाहरणों के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है।

संस्कृत-साहित्य के अंतर्गत इस प्रकार की शृङ्गारिकता का प्रवेश इस

समय एक अन्य मार्ग से भी होता जा रहा था। उपर्युक्त रचनाओं के निर्माण-काल में जिन स्तोत्रादि भक्ति काव्यों की रचना हुई उनमें भी श्रृङ्गारिक भावों की प्रधानता दीख पड़ने लगी। दुर्गा, राधा-कृष्ण शिव-पार्वती की वंदना में जो ऐसे पद्य लिखे गए उनमें नखशिखादि के वर्णन तथा लीलाओं के परिचय प्रायः श्रृङ्गारिक स्तर पर ही दिये जाने लगे। इसके सिवाय कदाचित् मध्यकाल के बहुत पहले से ही, कामशास्त्र संबंधी ग्रंथों का भी प्रणयन होता आ रहा था जिससे इस प्रवृत्ति को बड़ी प्रेरणा मिली। इसके कारण नखशिख वर्णन एवं नायिका भेद के निरूपण की परिपाटी को व्यवस्थित रूप मिल गया। काव्य-रचना के क्षेत्र में इसका अनुसरण करना शास्त्रीय परम्परा के समुचित पालन का महत्त्व रखने लगा। प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' में राधा एवं कृष्ण की जिन रहस्यमयी केलियों की 'जय' मनायी गई है उनमें ऐसी अनेक लीलाओं के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं जो कामशास्त्रानुकूल हैं।[1] इस कवि ने 'हरिस्मरण' के व्याज से ऐसे कई प्रसंगों का नग्न चित्रण किया है जो साधारणतः विलास प्रेमी समाज में ही संभव हो सकते हैं। किंतु फिर भी 'गीतगोविन्द' का उस काल के समाज में बहुत बड़ा आदर हुआ और यह रचना श्रृङ्गारिक भक्ति-काव्य का एक आदर्श बन गई। मैथिल कवि विद्यापति ने उसकी रचना-शैली के अनुकरण में जो अपनी पदावली रची वह भी लगभग वैसी ही सफल कृति सिद्ध हुई। उसका प्रभाव बंगला एवं हिंदी के परवर्त्ती भक्त कवियों पर विशेष रूप से पड़ा। श्रृङ्गार रस की इन दिनों यहाँ तक प्रधानता थी कि वीर रस पूर्ण ग्रंथों की रचना के उद्देश्य से, लेखनी उठाने वाले कवियों का भी ध्यान सहसा अपने चरित नायकों की प्रेम कहानियों की ओर चला जाता था। वे, उसके

---

[1] इस प्रसंग में लीला शुक कवि विरचित 'श्री कृष्ण कर्णामृतम्' का भी स्मरण हो आता है।—संपादक एम० के० आचार्य

युद्ध-कौशल की चर्चा करने के पहले, उसके प्रणय व्यापार का भी विशद वर्णन करने लग जाते थे।

काव्य-ग्रंथों में शृङ्गारिकता का प्रवेश कराने में इस समय एक अन्य दिशा से भी पूरा समर्थन मिला। विक्रम की आठवीं शताब्दी में इस देश के भीतर मुस्लिम आक्रमणकारियों का प्रथम प्रवेश हुआ और उसके अनंतर धीरे-धीरे उन्होंने यहाँ अपने पैर जमाना आरंभ कर दिया। दक्षिण भारत की ओर पहले अरब निवासी आया करते थे और यहाँ वाणिज्य-व्यापार करके चले जाया करते थे। इस्लाम धर्म के अरब में प्रतिष्ठित हो जाने के अनंतर वहाँ से धर्म प्रचारकों का भी आना आरंभ हुआ और फिर उन्हीं की भाँति अन्य मुस्लिम देश वाले भी आने लग गये। इन धर्म प्रचारकों में से सबसे अधिक प्रभावशाली वे सिद्ध हुए जो ईरान अथवा उसके आस पास के निवासी थे और जिन्होंने, सूफ़ीमत का प्रचार करने के व्याज से, यहाँ पर ईरानी साहित्य एवं संस्कृति का भी बहुत कुछ प्रभाव जमा दिया। मुस्लिम शासकों के दिल्ली, आगरा आदि अनेक प्रसिद्ध नगरों में बने रहने के कारण भी इस प्रकार की विचारधारा तथा आचरण पद्धति को पूरा प्रश्रय मिला। मुस्लिम वातावरण के इस प्रकार क्रमशः अधिकाधिक निर्मित होते जाने के कारण यहाँ की साहित्य रचना-शैली में भी परिवर्तन आ गया। ईरान का फ़ारसी साहित्य सूफ़ीमत द्वारा प्रभावित हो चुका था और उसमें सूफ़ियों के प्रेम-पंथ की शृङ्गारिक भावना प्रमुख स्थान पा चुकी थी। मुस्लिम राज्य के यहाँ प्रतिष्ठित हो जाने पर फ़ारसी भाषा के साथ-साथ उसके साहित्य का भी प्रचार आरम्भ हो गया और यहाँ के मुस्लिम लेखकों ने उसके निर्माण तक में हाथ बँटाकर उसे लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये। तदनुसार यहाँ पर न केवल फ़ारसी भाषा ही में प्रेम सम्बन्धी मसनवियाँ रची गईं अपि तु उनके अनुकरण में हिंदी प्रेम गाथाओं की भी एक परम्परा चल निकली।

इस प्रकार भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' की रचना के समय से लेकर मध्यकाल के आरम्भ तक शृङ्गारिक प्रवृत्तियों के विवेचन एवं वर्णन

के सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य का निर्माण होता आ रहा था जिसके उदाहरण उस युग की प्रायः सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं। एक ओर जहाँ भरत मुनि, भामह आदि काव्य शास्त्र के आचार्य शृङ्गार रस की व्याख्या करते हुए उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने की ओर अग्रसर होते आये वहाँ, उसके समानांतर में ही, ऐसे काव्य-ग्रंथों की रचना भी होती आई जिनमें श्रृंगारिक भावना की प्रधानता थी और जिसके लिए क्रमशः वातावरण भी अधिक से अधिक अनुकूल होता जा रहा था। संत अकबर शाह, बड़े साहब कृत 'शृङ्गार मंजरी' (तेलुगु-संस्कृत),[1] भूदेव विरचित 'रस विलास' तथा कुमार मणि शास्त्री रचित 'रसिक रसाल' जैसी रचनाओं का प्रणयन विक्रम की अठारहवीं शताब्दी तक होता आया। शृङ्गार रस को सर्वप्रथम भरत मुनि ने ही 'उज्वल, पवित्र तथा उत्तम' कहा था और 'अग्नि पुराण' के रचयिता ने इसे आदि रस भी सिद्ध करने की चेष्टा की थी। फिर इसके विविध भावादि की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए, अन्य आचार्यों ने इसे 'रसराज' तक की संज्ञा दे दी।[2] उधर 'सतसई' के समय से लेकर इधर जिस श्रृंगारिक साहित्य की रचना होती आई उसमें क्रमशः निर्मित होते जाने वाले नागरिक जीवन की अनेक विशेषताओं का भी समावेश होता आया और अपने विषय वैविध्य के कारण, उसके विस्तार एवं व्यापकता में सदा वृद्धि होती रही। फ़ारसी साहित्य के प्रभाव ने इसमें एक नया रंग लाकर इसे और भी पूर्ण तथा समृद्धि-

---

[1] डा० वी० राघवन द्वारा सम्पादित होकर हैदराबाद आर्कियालॉजिकल डिपार्टमेण्ट से सन् १९५१ से प्रकाशित हुई है।

[2] 'अकबर साहि शृङ्गार दर्पणम्' के रचयिता मध्यकालीन जैन कवि पद्म सुन्दर के अनुसार तो शृङ्गार विहीन काव्य वैसा ही नीरस बन जाता है जैसा कोई तृण का बना पुरुष हो। दे०—"एतेन हीनमपि किंच कवेः कवित्वं, नैरस्यमेव तृणपूरुषवद्व्रजेत", (उल्लास ४—श्लोक २०)

शाली बना दिया। मध्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में बंगाल के सहजिया संप्रदाय ने भी प्रायः सूफ़ियों की ही भाँति प्रेम-पंथ का प्रचार कर, वहाँ के गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय को प्रेरणा प्रदान की। उसके कारण दृढ़तर बनते जाने वाले शांत रस एवं श्रृङ्गार रस के गठबंधन का अपूर्व स्वागत हुआ। वीरगाथा के रचयिता कवियों की दृष्टि में श्रृङ्गार रस का महत्त्व यदि वीर रस के एक सहायक के रूप में रहा तो भक्ति-काल के कवियों ने उसे शांतरस का वस्तुतः सिरमौर ही बना डाला जिसका परिणाम यह हुआ कि अपनी चरम सीमा तक पहुँच कर वह अपने रसराजत्व के मद में चूर हो गया और अन्त में उसके प्रति विद्रोह तक करने की आवश्यकता पड़ गई।

अतएव हिन्दी-साहित्य के मध्यकालीन इतिहास को, प्रकारांतर से, श्रृङ्गार रस के उत्थान एवं पतन का भी इतिहास कह सकते हैं। इसका प्रारंभिक रूप अपभ्रंश की रचनाओं में लक्षित होता है और वह पहले अधिकतर लोक प्रचलित परम्पराओं का ही आश्रय ग्रहण करता प्रतीत होता है। किन्तु यह उस काल तक रची गई संस्कृत काव्यकृतियों द्वारा भी प्रभावित रहता है और इसकी अभिव्यक्ति में आभिजात्य का भी अंश कम नहीं रहता। फिर यह तात्कालीन धार्मिक साहित्य से भी प्रेरणा प्राप्त कर अपना एक आमुष्मिक रूप प्रदर्शित करने लग जाता है जिसका ठीक स्पष्टीकरण मैथिल कवि विद्यापति के समय तक नहीं हो पाता और वह, इसी कारण, इसके लिए संक्रांतिकाल भी कहा जा सकता है। अंत में फ़ारसी साहित्य के नवीन आदर्श तथा विभिन्न भक्ति आंदोलनों के प्रसाद-स्वरूप जो समर्थन हिन्दी साहित्य को मिलता है उसके कारण यह निखरने लग जाता है। सूफ़ियों एवं विशेषकर संतों की रचनाओं में तो यह विशुद्ध आध्यात्मिक वेश ही धारण करने के प्रयत्न में रहता है, किंतु सगुणवादी भक्तों का भी प्रश्रय पा लेने पर इसे फिर एक बार अपने ऐहिक क्षेत्र में लौट आने का प्रलोभन मिलता है जिसका संवरण इसके लिए असंभव सा सिद्ध होता है। वैभव-सम्पन्न मुगल साम्राज्य को

अधःपतन के साथ, जैसे-जैसे विलासिता को बल मिलता जाता है इसकी निर्मलता क्रमशः नष्ट होती चली जाती है। जिस प्रकार धरातल के विभिन्न जलाशयों में संचित जल सूर्य किरणों द्वारा क्रमशः खिंचता हुआ आकाश की ओर जाता है और वहाँ समुज्वल बन बादलों का रूप धारण कर लेता है तथा जिस प्रकार वहाँ से नीचे आकर वह मटमैला बन जाता है उसी प्रकार लौकिक साहित्य का शृङ्गारिक रस भी अवसर पाकर उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच गया तथा एक बार अधिक विशुद्ध भी बन गया। किन्तु फिर, अंत में, लौटकर उसे मलिन एवं पंकिल तक हो जाना पड़ा और उसमें आ फँस जाने के कारण अवतारी राधाकृष्ण एवं सीताराम तक की मिट्टी पलीद हो गई।

२

शृङ्गारिक प्रवृत्तियों का सर्वप्रमुख आश्रय प्रेम होता है। जिसका वर्णन प्रायः प्रत्येक साहित्य में प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। हिन्दी साहित्य में प्रेम का विषय पहले पहल या तो लोक-गाथाओं में मिलता है अथवा वीर रस की काव्य-रचनाओं में उसे युद्धादि के कारण रूप में, दिखलाया गया रहता है। ऐसे स्थलों पर हमें उसकी झलक अधिकतर गौण रूप में ही मिलती है। उसके उद्भव एवं विकास का पूरा चित्रण नहीं पाया जाता। लोक-गाथाओं में अथवा पौराणिक एव काल्पनिक आख्यानों में भी उनके प्रेमी नायकों के स्वाभाविक प्रेम का ही कथन किया जाता है। किसी के द्वारा गुण कथन किये जाने पर अथवा स्वप्न-दर्शन के कारण वे किसी सुन्दरी के प्रति आकृष्ट होते हैं और वे उसे प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उन्हें किसी नायिका का पहले प्रत्यक्ष दर्शन ही हो जाता है और उसके अनंतर वे दोनों बिछुड़ जाते हैं। एकाध प्रसंगों में इस प्रकार पूर्वानुराग के का कारण चित्र दर्शन भी प्रदर्शित किया गया है। वियोग हो जाने के पश्चात् प्रेमी एवं प्रेम पात्रों की एकांतनिष्ठा, साहसिकता एवं सहनशीलता जैसे गुणों की परीक्षा के अवसर आते हैं और इनमें वे प्रायः उत्तीर्ण होते ही दीख

पड़ते हैं। इनके मार्ग में पड़ने वाली अनेक बाधाएँ इस प्रकार की रहती हैं जिनसे बच निकलना पहले नितांत असंभव सा लगता है। परन्तु कोई न कोई 'दैवी शक्ति' अथवा चमत्कारी पुरुष उनकी सहायता के लिए आ पहुँचता है और उन्हें मरने तक से पुनर्जीवित बना लेता है। ऐसी घटनाओं के अवसरों पर प्रेमियों एवं प्रेमिकाओं द्वारा प्रदर्शित अदम्य उत्साह एवं धैर्य की कहानी स्वभावतः चित्ताकर्षक हुआ करती है। पाठकों की उनके प्रति सहानुभूति जागृत होती है और उनकी सफलता के विषय में जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता भी बढ़ जाती है। वीर रस की काव्य-रचनाओं में उक्त प्रेम कहानियों जैसे चामत्कारिक चित्रों का समावेश कम रहता है और इनमें दैवी शक्तियाँ भी कम काम करती हैं। इनमें उनकी जगह प्रत्यक्ष युद्ध मारकाट एवं षड्यंत्रादि ले लिया करते हैं जिनके कारण वास्तविक प्रेम व्यापार की ओर हमारा ध्यान उतना नहीं जा पाता। इनमें प्रायः सर्वथा विपरीत प्रसंग भी आ जाते हैं जो उसे बरबस दूसरी ओर खींचने लगते हैं जिस कारण एकरसता की स्थिति बनी नहीं रह पाती।

उपर्युक्त प्रकार के प्रसंगों में हमें प्रत्यक्ष प्रेम व्यापारों के दर्शन होते हैं तथा प्रेमियों के जीवन के अध्ययन का पूरा अवसर भी मिलता है। प्रबंध काव्यों के विस्तृत क्षेत्र में नायक वा नायिका अपने प्रेम मार्ग पर अग्रसर होते हुए दिखलाई पड़ते हैं, उनके वातावरणों एवं परिस्थितियों के अनुकूल वा प्रतिकूल परिणामों का स्पष्ट पता चलता रहता है और विविध घटनाओं के आदि-अंत का भी परिचय मिलता है। इनमें पूरी कहानी की रूपरेखा प्रस्तुत रहती है जिसकी एक छोर से दूसरी छोर तक पहुँचने में किसी निश्चित क्रम का बोध होता है। श्रृङ्गार रस के परिपाक में जितने भी साधन वा उपकरण काम देते हैं उनका यथास्थल समावेश रहता है जिनका हमें स्वभावतः प्रत्यक्ष दर्शन होता चला जाता है। घटनाओं के प्रगतिशील प्रवाह में हमें उनके पृथक् निरीक्षण की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कहानी के आरंभ से ही हम उसके प्रेमी

प्रेमिकाओं के साथ हो लेते हैं, उन्हें सावधानी के साथ देखते चलते हैं, उनके विविध व्यापारों की परीक्षा करते चलते हैं, उनकी बाधाओं का मूल्य आँकते रहते हैं और अंत में, उनके प्रणय प्रसंग की परिणति तक ही पहुँच कर विश्राम लेने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी कहानियों के अंत तक पहुँच जाने पर भी, कभी-कभी, उनका प्रभाव हमारे ऊपर बना रह जाता है। उनकी विशिष्ट बातों की ओर हमारा ध्यान प्रायः खिंचता ही रहा करता है और उनके सारतत्त्व को ग्रहण कर हम उसे अपने महत्त्व-पूर्ण अनुभवों के भीतर सुरक्षित कर लिया करते हैं। प्रेम का विषय इतना व्यापक और प्रभावशाली है कि वह किसी भी व्यक्ति के लिए कभी अपरिचित नहीं जान पड़ता और न कभी वह उपेक्षित ही रह सकता है। प्रेम भाव का आस्वादन हम न केवल किसी कोरी भावना के ही रूप में करना चाहते हैं। प्रत्युत उसके प्रत्यक्ष प्रयोगों में भी पूरा रस लेना चाहते हैं इसका रूप चाहे बड़ों की ओर से छोटों के प्रति स्नेह का हो जिससे वात्सल्य का उदय होता है अथवा वह छोटों की ओर से बड़ों के प्रति श्रद्धा का हो जिससे भक्ति को प्रश्रय मिलता है, उसके आकर्षण में कमी नहीं आती। परंतु उसके वास्तविक एवं सर्वाङ्गीण रूप का परिचय हमें इसकी उसी दशा में मिलता है जब यह किसी स्त्री एवं पुरुष के पारस्परिक प्रणय के आधार पर जागृत हुआ रहता है और शुद्ध शृङ्गारिक प्रवृत्तियों के लिए तभी उपयुक्त अवसर भी उपस्थित होता है।

काव्यशास्त्र के सर्व प्रथम परिचित आचार्य भरतमुनि के सामने संभवतः उपर्युक्त प्रकार की प्रेमकथाओं की ही सामग्री रही होगी जिसके रूप का विश्लेषण कर तथा उस पर सम्यक् विचार कर उन्होंने शृङ्गार रस का परिपाक विषयक विवेचन किया होगा। उनकी विषय प्रतिपादन शैली द्वारा प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि ऐसा करते समय उन्होंने प्रधानतः दृश्य काव्य को ही अपनी दृष्टि में रखा होगा। वे, सर्वप्रथम, किसी नाट्य वस्तु के दर्शक के दृष्टिकोण से, इस विषय पर विचार करने लगे होंगे कि किस प्रकार उसे क्रमशः शृङ्गारिक रस का अनुभव होता होगा।

नायक एवं नायिका एक दूसरे से प्रेम करते हैं, कुछ समय तक विरह जन्य दुःखों का अनुभव करते हैं और बहुधा फिर मिल भी जाया करते हैं। उन्हें इसके कारण अपने जीवन में अनेक बार कष्ट झेलने पड़ते हैं और आनंदित भी होना पड़ता है। किन्तु उन्हें अपने प्रेम व्यापार के द्वारा स्वयं कभी उस शृङ्गार रस का अनुभव नहीं हुआ करता जिसकी निष्पत्ति की चर्चा काव्यशास्त्र के ग्रंथों में की गई मिलती है। शृङ्गार रस वा किसी भी ऐसे रस का अनुभवकर्त्ता वह दर्शक, पाठक वा श्रोता ही हुआ करता है जो उसका अनुभव किसी सहृदय के रूप में किया करता है। दैनिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव तथा तद्विषयक साहित्य में चित्रित किये गए रूप, एक समान होते हुए भी, एक दूसरे से अभिन्न नहीं कहे जा सकते। यदि ऐसा होता तो हमारा दुःखांत प्रसंगों के दर्शन अथवा पठन में विशेष रुचि का लेना कभी संभव नहीं था। किसी जीवन में प्राप्त भय, शोक अथवा जुगुप्सा के अनुभव हमें रुचिकर नहीं प्रतीत होते, किन्तु जब कभी वे साहित्य में क्रमशः भयानक, करुण अथवा वीभत्स रसों के मूलस्रोत बन जाते हैं और उनके सहारे हमें इनके सर्वथा निष्पन्न रूपों की उपलब्धि होती है तो हमें एक अपूर्व आनंद का अनुभव होता है। प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव केवल व्यक्तिगत भी कहे जा सकते हैं, किन्तु किसी कुशल साहित्यकार द्वारा किया गया उनका चित्रण सर्वसाधारण द्वारा भी अनुभवगम्य बन जाता है तथा उसमें पायी जाने वाली कटुता अथवा असह्यता की तीक्ष्ण धार भी हमारे अंग को स्पर्श नहीं कर पाती।

शृङ्गार रस की उपर्युक्त प्रकार से की गई स्थापना द्वारा हमें साहित्य गत प्रेम व्यापार को देखने तथा आँकने का एक दृष्टिकोण मिल गया। जब कभी कोई प्रेम-काव्य पढ़ा जाता अथवा किसी ऐसे दृश्य काव्य का अभिनय देखा जाता उसके पाठक वा दर्शक का ध्यान सहसा शृङ्गार रस की निष्पत्ति के लिए बतलाये गए विविध साधनों और उपकरणों की ओर चला जाता और इस प्रकार ऐसी कृति की साहित्यिक समीक्षा भी कर दी जाती। तदनुसार ऐसी बातों का महत्व क्रमशः बढ़ता ही चला गया

और श्रृङ्गार रस के अतिरिक्त शेष रसों तथा अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, आदि संबंधी अनेक साहित्यिक सिद्धांतों का निरूपण और प्रतिपादन अधिक विस्तार के साथ होने लगा। फलतः साहित्यकार भी ऐसे शास्त्रीय आदर्शों का अनुगमन करना अपना कर्त्तव्य समझने लग गए। इस प्रकार, काव्यरूढ़ियों की परम्परा नित्य प्रतिष्ठित होती ही चली गई। जहाँ तक प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के प्रणय संबंध का प्रश्न है, साहित्य शास्त्र की दृष्टि से, उसकी कहानी की रचना का, श्रृङ्गार रस के उद्भव, विकास एवं निष्पत्ति के नियमानुसार, प्रस्तुत किया जाना परमावश्यक सा समझा जाने लगा। अतएव, श्रृङ्गारिक साहित्य में जहाँ पहले स्वाभाविक जन जीवन के चित्रण का ही समावेश रहा करता वहाँ उस पर न केवल आभिजात्य का रंग चढ़ गया, अपितु उसका रूप एक साँचा विशेष में ही ढाला जाने लगा। इसका परिणाम, संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की भाँति, पीछे हिंदी में भी दीख पड़ा। हाल की 'गाथा सत्तसई' में पूरी प्रेम-कथाओं की चर्चा नहीं थी, किंतु उसमें प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के जीवन की सुंदर झाँकियाँ, भरसक स्वाभाविक ढंग से ही, चित्रित की गई थीं। इसी कारण, उसमें किसी शास्त्रीय दृष्टिकोण विशेष का पता नहीं चलता है। परंतु बिहारी लाल की वैसी ही कृति 'बिहारी सतसई' में हमें इसका प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलता है जो, वास्तव में, आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित उक्त साहित्यक परम्परा के ही कारण हो सकता है और यही बात लोक प्रचलित प्रेमकहानियों तथा सूफ़ी प्रेमगाथाओं की एक साधारण तुलना द्वारा भी सिद्ध होती है। जो कमल कभी किसी वन्य जलाशय में अपने आप खिले दीखते थे उन्हें पूरी सावधानी के साथ निर्मित किये गए नागरिक तड़ागों में, किसी निश्चित क्रम विशेष के अनुसार, खिलाया गया है जिस कारण उनके सुगंध एवं सौंदर्य में अंतर का आ जाना स्वाभाविक है।

प्रेमभाव के पूर्ण विकास में जिन श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों का सहयोग प्राप्त होता है उनका परिचय हमें आचार्यों द्वारा किये गए श्रृङ्गार रस के

विवेचनों में मिलता है और उनके अनुसार इनकी संख्या एवं क्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति उसके आलंबन विभाव नायक-नायिका, उसके उद्दीपन विभाव सखी, सखा, दूती एवं प्राकृतिक वातावरण, उसके अनुभाव स्वेद, रोमांच कटाक्ष, आदि तथा उसके संचारी भाव व्रीडा, चिंता, आदि की ओर, इसके पहले ही, संकेत किया जा चुका है। आचार्यों ने इस प्रकार के विविध उपकरणों की विशद व्याख्या करके इनकी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। साहित्यकारों ने, इनका पूर्ण महत्त्व स्वीकार कर, उसके अनुसार इनका वर्णन किया है तथा इन्हीं के आधार पर प्रमुख शृङ्गारिक प्रवृत्तियों का परिचय भी दिया है। इन उपकरणों में सबसे अधिक प्रधानता स्वभावतः नायक-नायिकाओं को दी गई है। इनमें से भी नायिकाओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में वेश्या, कुलजा एवं प्रेष्या नाम से तीन प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख किया था जिन्हें प्रकृति के विचार से उन्होंने उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा तथा यौवन की दृष्टि से, नवयौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना एवं चतुर्थ यौवना कहा था। परन्तु नायिकाओं के चार भेद कहकर उन्हें उन्होंने फिर दिव्या नृपतिनी, कुलस्त्री एवं गणिका नाम भी दिये थे। इसी प्रकार, अवस्थानुसार इनका वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका एवं अभिसारिका होना भी बतलाया था। भरत मुनि की इस वर्गीकरण-पद्धति को पीछे के आचार्यों ने भी तत्त्वतः स्वीकार कर लिया और नायिकाओं के अवस्थानुसार बतलाये गए आठ भेदों का वर्णन, प्रायः जैसे के तैसे रूप में, आधुनिक समय तक करते चले आये इनके नामकरण तक में भी कभी आपत्ति नहीं की गई। शृङ्गार रस के कवियों ने इनका नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु इन भेदों के अनुसार नायिकाओं का वर्णन करना एक आवश्यक नियम सा बन गया। प्रबंध काव्यों में तो नहीं, किन्तु मुक्तक काव्यों के संग्रहों में हमें इनके उदाहरण प्रायः सर्वत्र मिलते हैं और अधिक स्थलों पर उनका अंधानुसरण किया गया भी प्रतीत होता है।

इधर के काव्याचार्यों ने नायिकाओं का वर्गीकरण, कभी-कभी कामशास्त्र के अनुसार उन्हें पद्मिनी, चित्रिनी, शंखिनी एवं हस्तिनी नाम देकर भी किया है। सामाजिक धर्मानुसार उन्हें स्वकीया, परकीया एवं सामान्या तथा उनके नैतिक स्तर के अनुसार उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा शब्दों द्वारा भी अभिहित किया है। 'उज्वल नील मणि' ग्रन्थ के रचयिता श्री मद्रूपगोस्वामी ने श्रृङ्गाररस को भक्तिरस में समाविष्ट कर उसे मधुररस का भी नाम दिया है। उन्होंने इसके विभावों में श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभाओं को ही आलंबन रूप में स्वीकार किया है,[1] जिस कारण वहाँ नायिकाओं के सभी वर्गीकरण अपेक्षित नहीं है। किन्तु शुद्ध साहित्यिक श्रृङ्गार का वर्णन करने वाले आचार्यों ने इसके लिए अन्य नवीन आधारों की भी कल्पना की है। उदाहरण के लिए हिंदी कवि देव ने नायिकाओं को उनके विभिन्न देशों के अनुसार, भिन्न-भिन्न कहा है। उनका नगर, ग्राम एवं वनादि के अनुसार वर्गीकरण किया है। उन्हें जाति एवं वर्ण के आधार पर पृथक्-पृथक् वर्गों में रखा है और इसके लिए विभिन्न व्यवसायों को महत्व दिया है। उन्हें, देवों, मनुष्यों, गंधर्वों, यक्षों आदि की श्रेणियों के अनुसार, विभाजित किया है अथवा उनके कफप्रकृति, पित्तप्रकृति एवं वात प्रकृति होने की ओर तक ध्यान दिया है। इस प्रकार नायिकाओं के वर्गीकरण का कार्य अपने मूल उद्देश्य अर्थात् उनके सांस्कृतिक वा मनोवैज्ञानिक अध्ययन से इधर बहुत दूर जा पड़ा है। आचार्यों ने, इसके लिए जहाँ तक उनके वयःक्रम, मनोदशा अथवा अवस्था को आधार बनाया है वहाँ तक उनका प्रयत्न आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। नायकों के विषय में भी पति, उपपति, अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट के भेद उपस्थित करना उतना असंगत नहीं है।

श्रृङ्गाररस के आलंबन विभाव नायिका एवं नायक के अनंतर उसके

---

[1] निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, पृ० ५

उद्दीपन विभाव सखी, सखा, दूती एवं वातावरणादि की चर्चा की जाती है। परंतु इसके पहले नायिका एवं नायक के 'नखशिख' को भी महत्त्व दिया जा सकता है जिसके अंतर्गत उनके सौंदर्य वर्द्धक गुणों का वर्णन रहा करता है। 'नखशिख' शब्द से किसी व्यक्ति के नख से लेकर शिख अर्थात् उसके मस्तक के सर्वोच्चभाग तक का वर्णित होना आवश्यक है। किन्तु बहुधा देखा जाता है कि सभी कवि इस क्रम का यथावत् अनुसरण नहीं करते और न उसके भीतर आने वाले प्रत्येक अंग का उल्लेख ही किया करते हैं। यदि चरण से लेकर केश तक के मध्यवर्ती सभी प्रमुख अंगों की शोभा का वर्णन किया जाय तो उनके अंतर्गत क्रमशः जघन नितम्ब, कटि, नाभि त्रिवलीरोमावलि, कुच, ग्रीव, चिबुक, अधर, दंत, कपोल, कर्ण, नेत्र, नासिका, भौंह, मुख और ललाट के नाम लिये जा सकते हैं। किन्तु कोई भी कवि इन सभी का एक साथ और क्रमानुसार वर्णन करता नहीं दीख पड़ता और कुछ लोग सारे मुख-मंडल अथवा बाहु युगल के भी प्रसंग एक साथ छेड़ते देखे जाते हैं। इसके सिवाय इन कवियों का ध्यान कभी-कभी सीधे उन अंगों पर न जाकर उन पर किये गए प्रसाधनों अथवा पहने गए अलंकारों तक ही रह जाया करता है। वे महावर की चर्चा करते हैं, नूपुरों का नाम लेते हैं, किंकिणि, हार, कुंडल, नथ एवं बेसर का वर्णन करते हैं तथा अंजन, बिंदी एवं सिन्दूर की शोभा बतलाते हैं। इसी प्रकार वे बहुधा चरणों की हंसगति, नेत्रों की खंजन-वत् चंचलता एवं केशों की कृष्णता आदि का ही उल्लेख कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। ऐसा करते समय उन्हें प्रायः उन रूढ़ियों का आधार मिल जाता है जिनकी परम्परा लगभग दो सहस्र वर्षों से निरंतर चली आ रही है। प्रत्यक्ष है कि किसी नायिका का वास्तविक सौंदर्य उसके अंगों के चंदनादि द्वारा लेपित होने अथवा उसके नूपुरादि भूषणों के धारण करने की अपेक्षा नहीं करता और न वह उसके शरीर के किसी अवयव विशेष के किसी सुन्दर वस्तु के सदृश प्रतीत होने पर ही अवलंबित है। शारीरिक सौंदर्य एक संश्लिष्ट गुण है जिसे केवल किसी

एक अंग मात्र पर ही केन्द्रित नहीं किया जा सकता और न उसका कोई निश्चित वर्णन ही किया जा सकता है। इसका बहुत कुछ अंश उस व्यक्ति पर भी आश्रित रहता है जिसकी दृष्टि को वह स्वभावतः आकृष्ट करने में समर्थ होता है। नखशिख वर्णन की परम्परा वस्तुतः उन संस्कृत-रचनाओं से आरंभ होती हैं जिनमें भक्त कवियों ने अपने उपास्य देवों के प्रत्येक अंग का वर्णन भक्तिभाव से प्रेरित होकर किया है।[१] शृङ्गारी कवियों ने भी नायिकाओं के प्रत्येक अंग को महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा में ही इसका आरंभ किया था, किन्तु उनकी मनोवृत्ति के अनुसार वह निम्न स्तर तक भी जा पहुँचा।

शृङ्गाररस के उद्दीपन विभाव में प्रायः तीन प्रकार की वस्तुओं अथवा व्यापारों को प्रधानता दी जाती है। इनमें से प्रथम वर्ग में प्राणियों की गणना की जाती है जो यातो सखी, सखा वा दूती के रूप में मानव योनि से संबंध रखते हैं अथवा जो भ्रमर, कोकिल, कीर, चकोर, चक्र-वाक, मोर, पपीहा, पारावत, हंस, मृग जैसे मानवेतर जीव हैं जिनके गुंजन, कूजन, गान अथवा नृत्य वा सौंदर्य हमें आकर्षक जान पड़ते हैं। सखी एवं सखा का काम क्रमशः नायिका एवं नायक को अवसर पड़ने पर उपयुक्त शिक्षा और सांत्वना देने का रहता है। किन्तु वे कभी ऐसी प्रत्यक्ष चेष्टा नहीं कर सकते जिसके कारण उनके प्रेमभाव में किसी प्रकार की त्रुटि अथवा न्यूनता की संभावना हो। नायिका एवं नायक, इसी कारण, उन पर अपना पूर्ण विश्वास रखते हैं और उनके प्रति अपने गुप्तभावों तक को प्रकट करने में कभी संकोच नहीं करते। इसलिए इनके सदैव उपस्थित बने रहने से उनकी अनुराग वृत्ति को एक दृढ़ आधार मिल

---

[१] 'नख शिख' शब्द में 'नख' का ही पहले आना इस बात को सूचित करता है कि भक्तों ने अपने इष्टदेव को आराध्य वा उपास्य की दृष्टि से देखा था जिससे उनका ध्यान सर्वप्रथम उनके चरणों की ही ओर गया था।—लेखक

जाता है और उसे उत्तेजना भी मिलती है। दूती का भी काम, इसी प्रकार, प्रेमी एवं प्रेमिका के बीच सौहार्द भाव बनाये रखने तथा उसमें निरंतर वृद्धि करते रहने का भी होता है। वे एक के प्रति दूसरे की भ्रांतियों का निराकरण करती हैं, विकट स्थितियों के सँभालने में उनका हाथ बँटाती हैं और उन दोनों के सहेट (मिलन स्थान) का भी प्रबंध किया करती हैं। सखी एवं सखा यदि प्रेमांकुर की रक्षा उसके पार्श्ववर्त्ती बनकर किया करते हैं तो दूती उसे सूखने वा कुँभलाने से, ठीक समय पर बचा लिया करती है तथा उसे सींच तक दिया करती है। भ्रमर, कोकिलादि पक्षियों तथा मृगादि पशुओं का नायक-नायिका के साथ किसी प्रत्यक्ष संबंध का होना आवश्यक नहीं, किन्तु ये भी उनकी सहायता करते हैं। ये अपने-अपने स्वाभाविक कार्यों में ही निरत रहते हैं, किन्तु, इनकी अनेक चेष्टाओं का मानवीय व्यापारों के साथ सादृश्य रहने से, इनका प्रभाव पड़ जाता है। ये वस्तुतः प्राकृतिक पदार्थों वा दृश्यों के ही अंग हैं, किन्तु इनका सचेतन होना इन्हें हमसे अधिक निकट ला देता है। इनके सिवाय प्रथम वर्ग में ही, नायक अथवा नायिका की क्रीड़ादि की भी गणना की जाती है जिन्हें वे, एक दूसरे से पृथक् रहने पर, स्वभावतः किया करते हैं। ये जल विहार, वन विहार, नृत्य, गायन, आदि जैसी हुआ करती हैं जिनमें उनके शारीरिक व्यापारों एवं हार्दिक भावों का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है और जिनके कारण उनके स्वाभाविक सौंदर्य का पता पाने तथा उनकी ओर आकृष्ट होने की पूरी प्रेरणा मिल जाती है।

दूसरे वर्ग के उद्दीपन विभावों में यातो चंद्र सूर्य, मलयसमीर, ज्योत्स्ना जैसे प्रकृति के अंगों का समावेश किया जाता है अथवा इनमें वापी, कुंज, तड़ाग, उपवन आदि आते हैं जिनका निर्माण मनुष्य के हाथों किया गया रहता है। इन सभी में प्रकृति अपने आप सचेष्ट दीख पड़ती है। कुंजों एवं उपवनों के फूल अपने नियमानुसार विकसित होते हैं और उनके वृक्ष तथा लतादि का पल्लवित होता रहना भी वैसे ही नियमों पर निर्भर है। वापी एवं तड़ागादि की छटा के लिए भी उनके

जल का निर्मल, शीतल एवं सुखद प्रतीत होना ही कहा जा सकता है। फिर भी, इन वस्तुओं के मूलतः कृत्रिम रहने के कारण, इनके सौंदर्य का एक बहुत बड़ा अंश इनके निर्माताओं के कला नैपुण्य पर भी आश्रित रहता है। मनुष्य इन्हें मनोनुकूल तथा मनोरम रूप देने के लिए स्वयं प्रयत्न किये रहता है जिस कारण ये उसके लिए कभी-कभी अधिक रुचिकर भी जान पड़ते हैं। वह इनके आश्रय में रहकर मनचाहे ढंग से विहार करता है तथा तज्जनित आनंद का अनुभव भी किया करता है। किन्तु चंद्र, सूर्य, सरित, निर्झर, समीर एवं ज्योत्स्ना जैसी प्राकृतिक वस्तुओं के सौंदर्य अथवा उनकी सरसता के लिए मानवीय चेष्टाएँ अपेक्षित नहीं रहतीं। वे स्वयं उदय लेते, प्रवाहित होते अथवा चतुर्दिक् व्याप्त होते रहते हैं। यदि वस्तुस्थिति पर विचार किया जाय तो, हमारे सुखदुखादि के प्रति उनका निरपेक्ष रहना ही सिद्ध होता है। किन्तु इन सभी वस्तुओं अथवा दृश्यों के साथ मानव एक अपूर्व साहचर्य का अनुभव किया करता है और कभी कभी तो इन्हें अपना अंतरंग सा भी मान लेता है। जब कभी प्रेमी की मनोदशा संयोगनिष्ठ रहती है और उसका हृदय हर्षित एवं उल्लसित रहता है, ये उसकी अनुभूतियों को और भी उद्दीप्त कर देते हैं। इसके विपरीत, जब कभी वह विरह-दग्ध बन जाता है तो ये उसके लिए अधिक दुखदायक भी प्रतीत होने लगते हैं। अतएव, नायक-नायिकाओं के प्रेमांकुर को हरित एवं पल्लवित रूप देने तथा उसमें सदा जीवन का संचार करते रहने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहता है।

श्रृङ्गाररस के तृतीय वर्ग वाले उद्दीपन विभावों में उन समय-संबंधी स्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है जो सूर्यादि ग्रहों की स्वाभाविक गमनशीलता के कारण उत्पन्न होती हैं और जिनका प्रभाव प्रत्येक पदार्थ पर बिना पड़े नहीं रह सकता। इनकी दशा सदा एक सी नहीं रहा करती। इनका आगमन केवल समय-समय पर नियमानुसार होता रहता है; किन्तु इनके पूर्ण परिचय का बना रहना हमारे लिए अनिवार्य सा हो

जाता है। ये हमारे प्रत्येक दिवस के प्रभात एवं संध्याकाल हैं, निशीथ है, दुपहरी है तथा वे छः ऋतुएँ हैं जिनके कारण बारहों महीने विभिन्न रंग पकड़ते जान पड़ते हैं। ये ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी सुखद एवं दुखद अनुभूतियों द्वारा प्रत्येक प्राणी परिचित है और जिनका प्रभाव जड़ पदार्थों तक पर लक्षित होता है। उपर्युक्त चंद्र-सूर्यादि की भाँति ये भी प्राकृतिक नियमों का ही यंत्रवत् अनुसरण करती हैं और इनसे हमारा कोई भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। किन्तु हमारा जीवन इन घटनाओं के तारतम्य की अपेक्षा निरंतर करता आया है और हम इनसे सदा प्रेरणा भी ग्रहण करते आये हैं। प्रेमी जीवों के लिए तो इनके प्रति विशेष आकर्षण रहता है क्योंकि उनकी रागात्मिका वृत्ति में नवस्फूर्त्ति जागृत करने के लिए ये सुन्दर साधन बन सकती हैं। ये कसौटियाँ हैं जिन पर प्रेमभाव का खरा रंग बार-बार कसा जाता रहता है और जिनके सम्पर्क में आकर अप्रभावित निकल जाना ही उसकी सिद्धि का द्योतक है। विरहिणी नायिकाओं के लिए तो ये, विभिन्न मार्ग चिह्नों का काम देकर, उनकी विरह मात्रा में सहायता पहुँचाती हैं। ये उनकी दबी स्मृतियाँ जगाती हैं और उन्हें नवाभिलाषाओं की लहरों द्वारा प्रायः क्षुब्ध भी कर देती हैं, किन्तु इनके कारण उनकी विरहावधि का ह्रासोन्मुख रहना भी सूचित होता है। शृङ्गाररस के कवियों ने इन घटनाओं में से कुछ को प्रेमांकुर के परिवर्द्धन का विशेषतः अनुकूल एवं उपयुक्त साधन होना ठहराया है।

शृङ्गाररस के उपर्युक्त विभाव जिस प्रकार प्रेमभाव के उदय एवं विकास में सहयोग प्रदान करते हैं उसी प्रकार अनुभाव उसके वर्त्तमान रहने का परिचय देते हैं। चाहे वे स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय के रूपों में शरीर पर स्वयं लक्षित हों चाहे वे आंख, हाथ, आदि के द्वारा व्यंजित किये जाँय, प्रत्येक दशा में वे इस बात की सूचना देते हैं कि ऐसे लक्षणों वाले व्यक्ति के हृदय में प्रेमभाव का उदय हो चुका है। ये बातें कभी-कभी प्रेमासक्त पुरुषों अथवा स्त्रियों

के आमोद प्रदर्शक मानसिक व्यापारों तथा उनकी ऐसी वेश-भूषादि द्वारा भी प्रकट होती हैं और इनके बहुत से उदाहरण शृङ्गारिक रचनाओं में पाये जाते हैं। प्रेमभाव की पुष्टि एवं परिवर्द्धन में ये सहायता भी पहुँचा सकते हैं, किन्तु केवल उसी दशा में जब ये विभाव बनकर उसे उद्दीप्त करने लग जाँय। प्रेमी के शरीरादि में ये अनुभाव बने रहते हैं, किन्तु प्रेमपात्र में दीख पड़ने पर ये उसके लिए उद्दीपन विभाव का भी काम कर सकते हैं। फिर भी प्रेमभाव के विकास में इन्हें विभावों का सा महत्त्व नहीं दिया जाता और न, इसी कारण, इनके विस्तृत वर्णन अथवा विवेचन की ओर उतना ध्यान ही दिया जाता है।

काव्य शास्त्र के आचार्यों ने अनुभावों के अतिरिक्त संचारी भावों की भी चर्चा की है। भरत मुनि ने, सर्वप्रथम, कुल ४१ भावों के नाम गिनाये थे जिनमें से प्रथम ८ को तो उन्होंने ८ रसों के स्थायी भाव कहा था और शेष ३३ को संचारी भाव कह कर छोड़ दिया था। इन ३३ में २१ शृङ्गाररस के संचारी भाव हैं। भरत मुनि के ४१ भावों के नाम ये हैं—

१. रति २. हास ३. उत्साह ४. विस्मय ५. जुगुप्सा ६. भय ७. क्रोध ८. शोक ९. निर्वेद १०. ग्लानि ११. शंका १२. श्रम १३. धृति १४. जड़ता १५. हर्ष १६. दैन्य १७. उग्रता १८. चिंता १९. त्रास २०. असूया २१. अमर्ष २२. गर्व २३. स्मृति २४. मरण २५. मद २६. स्वप्न २७. निद्रा २८. विबोध २९. व्रीड़ा ३२ अपस्मार ३१. मोह ३२. मति ३३. आलसता ३४. आवेग ३५. तर्क ३६. अवहित्थ ३७. व्याधि ३८. उन्माद ३९. विषाद ४०. औत्सुक्य ४१. चपलता; और इधर के लोगों ने इनमें छल, शम, वात्सल्य, स्नेह एवं भक्ति को भी जोड़ दिया है।

प्रत्यक्ष है कि इनमें से सभी को भाव की संज्ञा देते समय हमारे सामने कई, मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठ सकते हैं। उदाहरण के लिए व्याधि, अपस्मार, एवं मरण हमें रोग अथवा मृत्यु की दशा के सूचक शब्द ही जान पड़ते हैं। इनमें किसी भाव का बोध नहीं होता और मति,

तर्क एवं छल को भी भाव कहना ठीक नहीं। फिर भी 'मरण' को हमारे कवियों ने काम की दस अवस्थाओं में गिनाकर उसे उदाहृत किया है। जैसे अपभ्रंश के कवि स्वयंभू ने अपनी रचना 'पउम चरिउ' (रामायण) के अंतर्गत सीता के सौंदर्य से प्रभावित हुए राम की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

दिट्ठु जं जे पडपडिम कुमारेँ। पंचहि सरहि विद्धु णं मारेँ।
सुसिय वयणु घुम्मइय णिडालउ। वलिय अँगु मोडिय भुयडालउ।
बद्ध केसु परकोडिय वच्छउ। दरिसाविय दस कामावत्थउ।
चिंत पढम थाणंतरे लग्गई। वीयएँ पिय-मुह-दंसणु मग्गइ।

तइयएँ ससइ दीह णीसासेँ। कणइ चउत्थइ कर विण्णासेँ।
पंचम डाहेँ अँगु ण वुच्चइ। छट्ठइ मुहहोँ ण काइ विरुव्वइ।
सत्तमि थाणे ण गासु लइज्जइ। अट्ठमे गमणु माणहिँ भिज्जइ।
णवमएँ पाण सँदेहहो ढुक्कइ। दसमए मरइ ण केम'वि चुक्कइ।
घत्ता—कहिउ णरिंदहो किंकरिहिँ, पहु दुक्करु जीवइ पुत्तु तउ।
हा तेहिँ त्रि कण्णह कारणेण, सो दसमी कामावत्थ गउ ॥६॥[१]

अर्थात् सीता की प्रतिकृति को देखते ही राजकुमार को कामदेव ने पंच शर द्वारा वेध दिया, उसका मुख सूख गया, सिर घूमने लगा और शरीर काँपने लगा। उसने अपनी बाँहें मोड़ीं, केशों को बाँधा और वक्षस्थल को मरोड़ता हुआ काम की दस अवस्थाएँ प्रदर्शित करने लगा। सर्व-प्रथम उसका चित्त स्थानांतरित हो गया, दूसरे वह प्रियतमा के मुखदर्शन की अभिलाषा प्रकट करने लगा, तीसरे दीर्घ निःश्वास लेने लगा, चौथे कर मुद्राएँ दिखलाने लगा, पाँचवें उसका शरीर दग्ध होने लगा, छठें वह अपना मुख न दिखलाने लगा, सातवें वह ग्रास न लेता था आठवें उन्मत्त हो चलता था, नवें उसके प्राण संकट में थे और दसवें वह मरणासन्न था। अतएव भृत्यों ने राजा से कहा, हे प्रभो, तुम्हारे पुत्र का जीना

---

[१] हिन्दी-काव्यधारा, (सिद्ध-सामन्त युग) किताब महल, पृष्ठ ६० एवं ६२

कठिन है, क्योंकि उस कन्या (सीता) के कारण वह काम की दस अवस्थाओं को प्राप्त कर चुका है।

स्वयंभू कवि के इस वर्णन में हमें स्वाभाविकता से कहीं अधिक उसकी रूढ़िपारायणता ही लक्षित होती है। अन्य बहुत से कवियों ने भी सदा इसी प्रकार के प्रयत्न किये हैं और तदनुसार अनुभावों एवं संचारी भावों के उदाहरणों में हमें अधिकतर कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं। सच्ची बात तो यह थी कि कविगण अपनी कृतियों की रचना सदा स्वाभाविक ढंग से किया करते और काव्यशास्त्र के आचार्य उनमें प्रदर्शित बातों के आधार पर ही सिद्धांतों एवं नियमों की कल्पना करते और अपनी ओर से किन्हीं मनमाने आदर्शों की सृष्टि करने में व्यर्थ का समय न लगाते। किन्तु जैसे-जैसे शास्त्रीयता का महत्त्व बढ़ता गया और कवियों का ध्यान अपनी वास्तविक अनुभूति के अनुसार काव्य-निर्माण करने की अपेक्षा उनके अनुसरणमात्र की ही ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया उसका प्रकृत क्रम उलट गया और बहुत सी कृतियाँ केवल टकसाली बन कर ही रह गईं। फिर भी, जहाँ तक परिस्थिति एवं वातावरण का संबंध है, उनका कुछ न कुछ प्रभाव बराबर पड़ता चला गया और इस बात के अनेक उदाहरण हमें मध्यकालीन हिंदी कवियों की रचनाओं में भी मिल सकते हैं। इस युग के सिंह द्वार पर खड़े विद्यापति से लेकर इसके अंतिम दिनों तक की प्रवृत्तियों के कुशल चित्रकार ग्वाल कवि की रचनाओं को एक बार सरसरी ढंग से देखने पर भी इस बात के स्पष्ट होते देर नहीं लगती। चाहे नायिकाभेद का प्रश्न हो, चाहे नख-शिख वर्णन हो अथवा प्रकृति का ही चित्रण हो श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों का रंग सदा एवं सर्वत्र एक समान ही नहीं दीख पड़ता। कुछ परिवर्तन तो इस बात पर निर्भर है कि सभी ऐसे कवियों की मनोवृत्ति एक ही प्रकार की नहीं है। उदाहरण के लिए विद्यापति, रहीम, बिहारी एवं पद्माकर जैसे कवियों का ध्यान यदि अपने काव्य सौष्ठव की ही ओर अधिक है वहाँ केशवदास, मतिराम, देव एवं ग्वाल जैसे कवि दोनों बातें सँभालने की

की ओर प्रत्यक्ष रूप में प्रयत्नशील जान पड़ते हैं और कृपाराम, बलभद्र, दास एवं रसलीन अपने आचार्यत्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसी प्रकार सूरदास, जायसी, तुलसीदास एवं नन्ददास को शृङ्गारिक रचनाओं को प्रस्तुत करते समय सदा अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के अनुसार ही चलना पड़ता है। इसके सिवाय बहुत से कवि ऐसे भी मिलेंगे जिनके विषय में इस प्रकार का वर्गीकरण करना उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। वास्तव में ऐसे सभी कवियों में से केवल कम ही इस प्रकार के होंगे जिन्होंने किसी वर्गीकरण के घेरे में आने के विचार से अपनी कविताएँ लिखी होंगी।

३

विद्यापति प्रधानतः प्रेम एवं सौंदर्य के कवि हैं जिस बात का पता इनकी उन पंक्तियों द्वारा चलता है जिन्हें इन्होंने, शृङ्गाररस के आलंबन एवं उद्दीपन विभावों का वर्णन करते समय, प्रायः संस्कृत कवियों की शैली का अनुसरण करते हुए ही, लिखा है। इन पंक्तियों में इन्होंने न केवल किसी नायिका के केवल शारीरिक शोभा की ही चर्चा की है प्रत्युत उससे कहीं अधिक ध्यान उनकी मानसिक विशेषताओं की ओर दिया है। 'वयःसंधि' का चित्रण देते हुए ये इस प्रकार की बातें करते हैं जैसे उस नायिका का ये कहीं से छिपकर सूक्ष्म निरीक्षण करते रहे हैं। ये उसकी सभी विशेषताएँ एक-एक करके आँकते चलते हैं और एक अनुभवी रसिक व्यक्ति की भाँति, उनपर अपनी टीका टिप्पणी करने में भी नहीं चूकते। विद्यापति की ये पंक्तियाँ श्रीकृष्ण के प्रति किसी दूती द्वारा दी गई नायिका के वयः क्रम की वस्तु स्थिति विषयक सूचना है जो अत्यंत आकर्षक भी है। इनके शब्द चुन-चुनकर और, छोटे-छोटे वाक्यों में नगों की भाँति जटित करके, रखे गए हैं जिनसे अभीष्ट प्रभाव के पड़ते विलंब नहीं लगता। दूती अपने वर्णन में न केवल सीधी बातें कहकर ही रुक जाती है, प्रत्युत श्रीकृष्ण को पूर्णतः प्रभावित करने के लिए वह उनका समर्थन भी करती चलती है। विद्यापति ने इस प्रकार की शैली का प्रयोग उन स्थलों पर भी

किया है जहाँ से श्रीकृष्ण की दूती द्वारा राधा को तथा राधा की दूती द्वारा श्रीकृष्ण को क्रमशः उनके प्रेमी अथवा प्रेमिका की मनोदशा एवं शारीरिक अवस्था का परिचय दिलाते हैं तथा इस प्रकार उन्हें उनकी ओर पूर्णतः उन्मुख भी कराते हैं। फिर यही बात इनकी उन शिक्षाओं में भी दीख पड़ती है जिन्हें ये श्रीकृष्ण के प्रति अथवा राधा के प्रति, एक के दूसरे के साथ मिलने के लिए सजग और सावधान हो जाने के उद्देश्य से, दिलाते हैं और जिनमें सच्चे आत्मीय एवं शुभ चिंतक के उपयुक्त कथन के उदाहरण मिलते हैं। विद्यापति एक सुयोग्य पंडित और विद्वान् थे और वे काव्य-कला से पूर्ण परिचित भी थे। किन्तु उनकी रचना शैली में केवल नियमानुसरण अथवा रूढ़िपालन के ही प्रयत्न नहीं, और न उनकी पंक्तियों में केवल परम्परागत बातों का ही समावेश है। ये स्वयं अनुभव करते हैं, स्वयं सोचते हैं, अपनी निजी कल्पना से काम लेते हैं और पुरानी बातों को भी ऐसे ढंग से रखना जानते हैं जिससे नवीनता आ जाती है। उनकी रचनाओं पर काव्यशास्त्र एवं कामशास्त्र इन दोनों का ही प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है किन्तु सब कुछ होते हुए भी, हम वहाँ ठेठ अश्लीलता का अनुभव नहीं कर पाते। उनका विषय प्रधानतः साहित्यकारों के भाव जगत् की ही वस्तु है और उनके नायक श्रीकृष्ण एवं नायिका राधा की विविध चेष्टाओं में अभी तक उस वातावरण का ही रंग लक्षित होता है जिसका निर्माण पौराणिक पद्धति एवं 'गीतगोविन्द' के आदर्श पर हुआ था।

विद्यापति के जीवन-काल (सं० १४३७–१५१७) में ही भक्ति आंदोलन का भी प्रचार पूर्ण रूप से होने लगा था। संत कबीर साहब उनके समसामयिक थे और जायसी का भी जन्म उनकी मृत्यु से कदाचित् कुछ पहले ही हो चुका था जिस से स्पष्ट है कि हिन्दी में 'निर्गुण भक्ति' की रचनाओं का आरंभ अवश्य हो चुका होगा। कबीर साहब की रचनाओं में जिस शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है वह विद्यापति वाली

परम्परा से नितांत भिन्न की है।[1] किन्तु जायसी की 'पद्मावत' में हम उसके उदाहरण बहुत स्पष्ट रूप में पाते हैं और उस रचना में हमें उनकी उस शैली का भी पता चलता है जो फ़ारसी साहित्य की देन थी। जायसी ने उस रचना की प्रेम कहानी को आध्यात्मिक प्रेम के विकास एवं परिणति पर घटाने की चेष्टा की है और इस बात का, उसके अंत में, उल्लेख भी कर दिया गया है। किन्तु प्रत्यक्षतः उसमें सर्वत्र रतनसेन एवं पद्मिनी अथवा उनकी दूसरी रानी नागमती के ही प्रेम एवं विरह के वर्णन की प्रसंगता पायी जाती है। जायसी रतनसेन के, पद्मिनी के सौंदर्य को सुनकर, सहसा मूर्छित हो पड़ने का वर्णन करते हैं जो भारतीय पद्धति के गुण श्रवण जनित पूर्व राग के उदाहरण में आता है। वे इसी प्रकार, रतनसेन के विरह में पड़ी हुई नागमती की दशा का भी विस्तृत चित्रण करते हैं और उसमें भी उन्होंने मूलतः उसी का अनुसरण किया है। किन्तु ऐसी दशाओं का वर्णन करते समय वे अनेक स्थलों पर जिस अत्युक्ति वा अतिशयोक्ति से काम लेते हैं वह अधिकतर फ़ारसी साहित्य के ही प्रभाव के कारण है। जायसी की नागमती यदि आरंभ से ही स्वकीया नायका है तो पद्मिनी, सर्वप्रथम, परकीया जैसी ही दीख पड़ती है। इसमें प्रेम भाव के उद्दीपन में सखियाँ भी काम करती हैं और नायिका की एवं नायक की मनोदशाओं के रूप भी प्रायः शास्त्रीय आदर्शों का ही अनुकरण करते जान पड़ते हैं। फिर भी विद्यापति एवं जायसी के श्रृंगारिक वर्णनों में सर्वत्र साम्य के ही दर्शन नहीं होते। जायसी की 'पद्मावत,' एक प्रबंध काव्य होने के साथ ही, कोरे ऐहिक प्रेम का लक्ष्य लेकर निर्मित की गई, रचना नहीं है; वह सोद्देश्य है और वह साधारण प्रेम कथा को आध्यात्मिक प्रेम साधना में घटाने के प्रयत्न में बनी है। सूफ़ी कवि जायसी की दृष्टि में सांसारिक प्रेम एवं परमात्मा के प्रति प्रदर्शित प्रेम में सिद्धांततः विशेष अंतर नहीं और एक दूसरे में परिणत किया जा सकता है। किन्तु विद्यापति अपने पदों में उस प्रेम की चर्चा

[1] दे० 'कबीर साहित्य की परख', भारती भण्डार, प्रयाग

करते हैं जो, राधा एवं कृष्ण के पौराणिक स्तर पर विकसित होता हुआ भी, साधारण प्रेम व्यापार के अनुरूप भर जान पड़ता है। ये राधा एवं कृष्ण की कतिपय प्रेम लीलाओं का वर्णन एक पद्धति विशेष के अनुसार करते दीख पड़ते हैं।

विद्यापति की इस शैली को सूरदास ने भी अपनाया, किंतु इनका उद्देश्य केवल, विद्यापति की भाँति, काव्यरस की चर्चा करना मात्र ही नहीं था। वे एक भक्त भी थे और इनकी धारणा थी कि, अपने इष्टदेव कृष्ण एवं उनकी प्रेयसी राधा की विविध प्रेम लीलाओं के वर्णन द्वारा, वे उनका गुणानुवाद कर रहे हैं। इनका यह गुणानुवाद सोद्देश्य था और इससे ये उनको प्रसन्न तथा अपनी ओर आकृष्ट करने की आशा रखते थे। इस प्रकार कृष्ण एवं राधा इनके यहाँ साहित्यिक अभिव्यक्ति के कोरे उपकरण मात्र ही नहीं है और न उन्हें ये कभी साधारण नायक एवं नायिका रूप में देखते ही हैं।[1] इसी कारण वे जायसी के रतनसेन एवं पद्मिनी अथवा नागमती के समान कभी हो ही नहीं सकते। फिर भी 'सूरसागर' के अंतर्गत हमें ऐसे भी अनेक स्थल मिल जाते हैं जहाँ कवि सूरदास का अपने इष्टदेव के प्रति भक्ति भावना का शुद्ध रूप कायम किये रहना सिद्ध नहीं होता। राधा एवं कृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन करते करते ये उनके शारीरिक संयोग तक की चर्चा करने लग जाते हैं। इस प्रकार वहाँ इनके द्वारा मर्यादा का उल्लंघन होना भी कहा जा सकता है। इनका चीरहरण लीला के अवसर पर श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार का, गोपियों के प्रति, हठ कराना कि तुम जल से, हाथों को ऊपर उठाये हुए, नग्न रूप में निकलो भी इनके शिष्टाचार के उल्लंघन करने का ही एक दूसरा उदाहरण माना जा सकता है। ऐसे स्थलों की प्रायः

---

१. हित हरिवंश जी के राधा वल्लभी संप्रदाय में तो राधा कृष्ण की कुञ्जलीला का ही ध्यान सर्वोच्च साधना मानी गयी और इस कारण उसके सजीव वर्णन को भी सर्वाधिक महत्त्व दिया गया।—लेखक

आध्यात्मिक व्याख्या भी कर दी जाती है जो कभी-कभी सूफ़ी कवियों द्वारा अपनी प्रेमगाथाओं को रूपक सिद्ध करने के प्रयत्न सा लगता है। फिर भी सूरदास द्वारा दिया गया राधा-कृष्ण का अनुराग वर्णन अपने ही ढंग का है। सूरदास की सौंदर्य भावना का भी परिस्फुटन, अनेक स्थलों पर उच्च आदर्शों के ही अनुसार हुआ है। जब इनकी गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग का सौंदर्य वर्णन करने लगती हैं तो इनकी राधा कह उठती है कि मेरी दृष्टि तो कभी उनके किसी अंग पर आज तक पड़ी ही नहीं, यह उस पर ठहने में सदा असमर्थ रही है। राधा श्रीकृष्ण के लिए कोई साधारण प्रेमिका नहीं और वह कभी-कभी एक भक्त के भी रूप में दीख पड़ती है तथा वह स्वयं उनके स्तर की भी प्रतीत होती है। श्रीकृष्ण की अन्य नायिकाओं का भी वर्णन, विभिन्न गोपियों के रूपों में मिलता है, किन्तु राधा के सामने वे केवल साधिकाओं की सी लगती हैं। सूरदास ने रास के प्रसंग में नायक एवं नायिका के संभोग शृङ्गार का वर्णन किया है और तत्पश्चात् राधा का मानिनी रूप भी दिखलाया है। राधा यहाँ पर हमारे सामने साधारण नायिकाओं की श्रेणी में आ जाती है क्योंकि यहाँ पर उसमें अन्य गोपियों के प्रति ईर्ष्या का भाव भी दीख पड़ता है। किन्तु सूरदास ने इसे, कदाचित् इसीलिए महत्त्व दिया है कि उन्हें श्रीकृष्ण की गोपी रूपिणी नायिकाओं के भी प्रेम व्यापार की ओर हमारा ध्यान दिलाना था।[1] सूरदास के इष्ट देव श्रीकृष्ण का कोई एक मात्र ही भक्त नहीं हो सकता और वे सबके लिए भी कृपालु बन सकते हैं जिसका समर्थन फिर लगभग सारे बृज निवासियों के उनके साथ, वसंतोत्सव में भाग लेने एवं उल्लसित होने से भी हो जाता है। सूरदास

[1]. राधा की वैसी मनोवृत्ति सर्वथा स्त्रियोचित भी है। श्री कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव प्रदर्शित करने वाली भक्त कवयित्री मीरांबाई तक की रचनाओं में हमें इसके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं।—लेखक

के प्रेमभाव-संबंधी वर्णनों में हमें कभी-कभी एक ऐसी अपूर्वता दीख पड़ती है जो उनके द्वारा उसे अलौकिकता प्रदान किये जाने के ही कारण संभव हो सकती है। इस दृष्टि से उनकी श्रृङ्गारिक रचनाएँ विद्यापति से बहुत भिन्न कोटि की ठहरती हैं। यद्यपि, उनके इष्टदेव की प्रेम लीलाओं का प्रत्यक्ष वर्णन करने के कारण, वे सूफ़ी कवि जायसी की प्रेमगाथा वाली रूपकमयी रचना की पंक्तियों में भी नहीं बिठायी जा सकतीं। फिर भी उनकी श्रृङ्गारिकता आध्यात्मिकता के ही मार्ग का एक स्थल विशेष है जिसकी ओर स्वयं सूरदास ने भी कहीं-कहीं संकेत कर दिया है और जिसका पता, उनके उसे कभी-कभी रहस्यात्मक बना देने से भी, चल जाता है।

अपने इष्टदेव के चरित-वर्णन में प्रेमलीला को स्थान देना तुलसीदास भी नहीं भूल सके हैं। किन्तु उन्होंने इसे सूरदास के समान प्रधानता नहीं दी है। 'राम चरित मानस' में वे रामचंद्र के बचपन से लेकर उनके प्रौढ़ वय तक की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिस कारण यह भी वहाँ आवश्यक हो जाता है। मानस के 'बाल कांड' में, जहाँ जनकपुर की फुलवारी वाले प्रसंग का वर्णन है, रामचंद्र एक नायक के रूप में दीख पड़ते हैं और सीता वहाँ नायिका के रूप में हैं। रामचंद्र एवं सीता वहाँ एक दूसरे को देखते हैं और उस प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा पूर्वानुराग की दशा का आरंभ हो जाता है। रामचंद्र के साथ उनके अनुज लक्ष्मण हैं जो यहाँ प्रसंगतः एक सखा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सीता के साथ आयी हुई सखियाँ तो स्पष्ट रूप में उद्दीपन का कार्य करती दीख पड़ती हैं। प्रेम-भाव के क्रमशः उदित एवं अंकुरित होने के लिए अवसर एवं स्थान भी सर्वथा उपयुक्त हैं। फुलवारी के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन पढ़कर कोई भी पाठक, उस घटना के पहले से ही ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में पड़े बिना रह नहीं सकता। 'मानस' के नायक एवं नायिका जब एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होने के मार्ग पर आते हैं तो उन पर भी ठीक वैसे ही प्रभाव पड़े हुए लक्षित होते हैं जैसे किन्हीं ऐसे दो साधारण व्यक्तियों पर हो सकते हैं। किंतु इनमें एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण इनके भावों में वैसी

किसी दुर्बलता का भान नहीं हो पाता। तुलसीदास की दृष्टि में रामचंद्र जगत के पिता और उनके स्वामी हैं तथा उसी प्रकार, सीता भी 'जग उजननी' और उनकी स्वामिनी हैं। इस कारण, ये उनके भौतिक प्रेम की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। राम का सौंदर्य इस प्रकार का है जिसे एक बार देख लेने वाला उसके वर्णन में सर्वथा असमर्थ हो जाता है और उसके लिए 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' तक कहने का अवसर आ जाता है। इसी प्रकार, सीता की शोभा की सराहना स्वयं रामचंद्र भी केवल अपने हृदय में ही कर पाते हैं, उसे वे व्यक्त नहीं कर सकते। फिर प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति के होते हुए भी, रामचंद्र एवं सीता विद्यापति के उन नायक एवं नायिका की दशा का अनुभव नहीं करते जो

दुहु मुख हेरइत दुहु मेल भोर।
समय न बूझए अचतुर चोर॥

अर्थात् एक दूसरे को देखकर ऐसे विभोर हो जाते हैं जैसे कोई अनाड़ी चोर भरापूरा माल देखकर उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा नहीं करता, प्रत्युत शीघ्र अपने चौर्य में प्रवृत्त हो पड़ता है और, इस प्रकार, अपने को बचा नहीं पाता। यहाँ रामचंद्र का ध्यान तत्क्षण 'आपनि दसा' की ओर भी चला जाता है और सीता भी उन्हें 'लोचनमगु' द्वारा 'उर' में लाकर उस पर चतुरता के साथ 'कपाट' का पर्दा डाल लेती हैं। यहाँ इन दोनों नायक-नायिकाओं के ऊपर उस प्रकार का भी प्रभाव नहीं लक्षित होता जिसे सूरदास ने "नैन नैन मिलि परी ठगोरी" जैसे शब्दों द्वारा प्रकट किया है। ये दोनों अपनी-अपनी मर्यादा का ज्ञान रखते हैं और इनकी सारी चेष्टाएँ, आगे की अन्य स्थितियों में भी मर्यादित ही रह जाती हैं। तुलसीदास के 'मानस' वाले नायक राम जायसी के उस 'पद्मावत' वाले नायक रतनसेन से भी नितांत भिन्न हैं जो सुआ के द्वारा पद्मिनी का सौंदर्य वर्णन सुनते ही, अचेत होकर गिर पड़ता है।

'मानस' की सीता का चरित्र-चित्रण उसके अपने पति के साथ रहने तथा उससे वियुक्त होने की दशा में भी एक सच्ची भारतीय नारी के रूप में

हुआ है। उसके गार्हस्थ्य जीवन का सजीव चित्र जैसा 'मानस' में मिलता है वैसा सूरदास की राधा के लिए संभव ही नहीं था। 'पद्मावत' की पद्मिनी एवं नागमती में उस आदर्श की झलक अवश्य मिलती है, किंतु वह भी अधूरी ही कही जा सकती है। सूरदास की राधा श्रीकृष्ण की प्रेमिका और प्रेमपात्री ही बनी रह जाती है और उसके ये दोनों रूप केवल प्रेमलीलाओं में दीख पड़ते हैं। जान पड़ता है कि दोनों का जीवन क्षेत्र सीमित कर दिया गया है न तो श्रीकृष्ण के सामने प्रेमलीलाओं से बढ़कर कोई दूसरा काम है और न राधा के जीवन का ही कोई अन्य पहलू हो सकता है। श्रीकृष्ण यदि किसी अन्य कार्य में लग जाते हैं तो वह राधा के जीवन में बाधा बन जाता है और वह इसे सहन करना बहुत कठिन समझती है। विद्यापति की 'पदावली' में तो इसके लिए भी कोई अवसर उपस्थित होता नहीं जान पड़ता और उनकी राधा का जो कुछ भी परिचय उपलब्ध होता है वह केवल एक ही ढंग का है। तुलसीदास की सीता में इसी कारण, अधिक स्वाभाविकता है और जीवन की पूर्णता भी है। विद्यापति का चित्रण निरा साहित्यिक मात्र और निराधार-सा लगता है। फिर भी श्रृङ्गारिक दृष्टि से देखने पर विद्यापति ही वस्तुतः, सफल कहे जाते हैं और इसी से वे अपने परवर्त्ती कवियों के लिए कोई आदर्श भी रख पाये। इनके आदर्श को लेते हुए, सूरदास के अनुकरण में काव्य-रचना करने वाले नंददास थे जो तुलसीदास के ही समकालीन थे। नन्ददास ने श्रीकृष्ण एवं राधा तथा गोपियों की प्रेमकथा के अतिरिक्त 'रूप मंजरी' नामक एक प्रेमाख्यान लिखा है और 'विरह मंजरी' तथा 'रस मंजरी' के द्वारा श्रृङ्गार रस विषयक अनेक आवश्यक बातों का सांगोपांग वर्णन करने की भी चेष्टा की है। 'रस मंजरी' वस्तुतः नायिका भेद वर्णन का ग्रंथ है, किंतु वे इसकी रचना इस उद्देश्य से करते हैं कि इसके द्वारा भगवान कृष्ण का ही वर्णन हो जाता है। श्रीकृष्ण ही रूप हैं, वे ही प्रेम हैं और वे ही आनंद भी हैं। नायिकाओं का वर्गीकरण करते समय इन्होंने भानुदत्त कवि के संस्कृत ग्रंथ 'रसमंजरी' का अनुसरण किया है, किंतु

कहीं-कहीं अपनी कल्पना से भी काम लिया है। नन्ददास की ख्याति अधिकतर उनकी 'रास पंचाध्यायी' एवं 'भ्रमरगीत' नामक दो रचनाओं पर आश्रित है जो दोनों ही श्रीकृष्ण की लीला से संबंध रखती हैं। 'रासपंचाध्यायी' में रासलीला का वर्णन है जो प्रत्यक्षतः उसके नायक की कामकेलि की गाथा है, किंतु यदि सूक्ष्मरूप से विचार किया जाय तो उसमें कुछ आध्यात्मिक रहस्य भी लक्षित होता है और इस दृष्टि से उसकी सभी बातें एक 'अलौकिक' रूप ग्रहण करती जान पड़ती हैं। इसी प्रकार 'भ्रमरगीत' में उद्धव एवं गोपियों के वादविवाद के आधार पर श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित प्रेम का बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है। नंददास की गोपियाँ परकीया नायिका की ही श्रेणी में रखी जा सकती हैं, किंतु इनमें उस श्रीड़ा का संकोच वा भाव नहीं जो ऐसी नारियों में पाया जा सकता है। नन्ददास की उपर्युक्त रचनाओं में जहाँ तहाँ सूफ़ियों के प्रेमपंथ का भी प्रभाव लक्षित होता है। नन्ददास में भक्तिकाल एवं रीतिकाल दोनों के ही प्रसंग आते हैं।

नन्ददास एक भक्त कवि थे इस कारण उन्होंने जो कुछ भी शृङ्गार वर्णन किया वह अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को भगवान की दृष्टि से देखते हुए ही किया और उनका नायिका-भेद जैसी बातों की चर्चा करना केवल अपने समय की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का अनुसरण मात्र ही था। उनके समसामयिक रहीम का दृष्टिकोण इनसे भिन्न जान पड़ता है क्योंकि ये अपने 'नायिका भेद' अथवा 'नगर शोभा' में ऐसा करते नहीं दीख पड़ते। अपने बरवै छंदों द्वारा ये विभिन्न नायिकाओं के उदाहरण देते चले जाते हैं, उनके लक्षण भी देने की चेष्टा नहीं करते। अपनी 'नगर शोभा' नामक रचना में तो ये कई जाति की नारियों का वर्णन करने लग जाते हैं जो वस्तुतः नायिका भेद की दृष्टि से किया गया नहीं जान पड़ता। उनके ये दूसरे प्रकार के वर्णन शुद्ध शृङ्गारिक रूप के ही नहीं रह जाते और बहुत कुछ परिचयात्मक से भी लगते हैं। इस बात में रहीम का अनुकरण पीछे देव कवि ने भी किया और उन्होंने इस प्रकार की एक

पृथक् रचना ही प्रस्तुत कर दी। रहीम ने अपना नायिका भेद केवल कवि-दृष्टि से ही किया है। उन्होंने ऐसा करते समय संभवतः उन वर्गीकरणों की ओर भी ध्यान दे दिया होगा जो क्रमशः प्रचलित होते जा रहे थे। इनके पीछे आने वाले विहारी लाल तथा पद्माकर जैसे कवियों में भी हमें प्रधानतः इसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। विहारी लाल भी, रहीम की ही भाँति, एक रसिक जीव थे और उन्हें काव्यकला का भी अच्छा ज्ञान था जिस कारण उन्होंने अपनी 'सतसई' में शृङ्गार रस का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है। उनकी पंक्तियों में उनके सूक्ष्म निरीक्षण एवं शब्द चयन का प्रायः वही प्रयास लक्षित होता है जिसे हम विद्यापति में भी पाते हैं। उनके दर्बारी होने के कारण उनकी कृतियों में अधिकतर वैसी बातें ही मिलती हैं जिन्हें उस काल के राजे महाराजे बहुत पसन्द करते थे। फिर भी अपने नायिकाओं की मनोवृत्ति के विश्लेषण एवं प्रदर्शन में उन्होंने सूक्ष्म कला कौशल का परिचय दिया है। विहारी लाल में भी हमें विद्यापति के ही जैसा मनोवैज्ञानिक अध्ययन का उपकरण प्रचुर मात्रा में मिलता है। उन्होंने सौंदर्य का निरीक्षण और वर्णन भी बड़ी सहृदयता के साथ किया है। इसके महत्त्व से पूर्णतः परिचित होने के कारण, वे इसके रूपगत, स्वभावगत अथवा व्यापारगत, किसी भी पहलू को नहीं छोड़ते, उन्होंने प्रेम की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया है और उसके मानवीय एवं इष्टदेव परक दोनों ही पक्षों की ओर ध्यान दिया है। फिर भी उनकी पंक्तियों में हमें कई स्थलों पर कुरुचि के उदाहरण भी मिलते हैं जो केवल उनके युग की दृष्टि से ही क्षम्य कहे जा सकते हैं। पद्माकर की रचनाओं में भी हमें विहारी लाल की इन विशेषताओं का परिचय मिलता है, किंतु वे कभी-कभी अपना आचार्यत्व प्रकट करते भी दीख पड़ते हैं। उनका 'जगत विनोद' ग्रंथ उनकी इस प्रवृत्ति के परिचायक उदाहरणों में दिया जा सकता है। पद्माकर भी अपने शृङ्गारिक वर्णनों में कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय देते दीख पड़ते हैं और वे अपने अतिरंजित चित्रों में कहीं-कहीं

बिहारी लाल से भी बढ़ जाते हैं। अपने आचार्यत्व प्रदर्शन की धुन में इन्होंने, कवि देव की भाँति, कभी-कभी नवीनता लाने की भी चेष्टा की है। फिर भी पद्माकर का ध्यान जितना काव्य-कौशल प्रदर्शन की ओर है उतना आचार्यत्व सिद्ध करने की ओर नहीं है। इसी कारण, ये शृङ्गार के कवियों में एक उच्चस्थान के अधिकारी हैं। रीतिकाल के इन कवियों की रचनाओं में श्रीकृष्ण एवं राधा का वह रूप नहीं रह जाता जो सूरदास आदि की कविताओं में दीख पड़ता था। यहाँ ये दोनों उस काल के विलासप्रिय नागरिकों अथवा कभी-कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी में उतर आते हैं। इनमें कवि विद्यापति द्वारा प्रदर्शित पौराणिकता तक का चिह्न अत्यन्त साधारण मात्रा में मिलता है और ये बहुधा तात्कालीन मुस्लिम वातावरण द्वारा भी प्रभावित हो जाते हैं।

शृङ्गाररस के ऐसे कवियों ने, यद्यपि सुरुचिता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, फिर भी उन्होंने अपना काव्य-प्रेम अवश्य निभाया। इसके विपरीत जिन अन्य कवियों का ध्यान अपने आचार्यत्व को सँभालने की ओर भी बँट गया वे सब के सब इतना भी नहीं कर पाये। ऐसे कवियों के मार्ग प्रदर्शक, कदाचित्, कृपाराम समझे जाते हैं जिन्होंने अपनी 'हित तरंगिनी' की रचना सं० १५६८ में की थी। यह रचना प्रधानतः नायिका भेद से संबंध रखती है और संयोगवश उस समय लिखी गई थी। जिस समय जायसी अपनी 'पद्मावत' की रचना कर रहे होंगे। कृपाराम ने 'नंद किशोर' की वंदना करके ग्रंथारम्भ किया है और यह भी बतलाया है कि कवि लोग 'सिंगार रस' का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया करते हैं। नायिकादि का वर्णन करने के पहले ये उनके लक्षण बतला देते हैं और तब उनके उदाहरण देते हैं। जिस पद्धति का अनुसरण पीछे दूसरों ने भी किया है। स्पष्ट है कि ऐसे वर्णनों में शृङ्गाररस का आस्वादन हमें निर्बाध रूप में नहीं हो पाता। ये मनोवैज्ञानिक से अधिक वैज्ञानिक वा शास्त्रीय ही बने रह जाते हैं। फिर भी कृपाराम के अनन्तर अन्य अनेक आचार्यों ने भी इसी पथ का अनुसरण करना

उचित समझा। केशवदास जो रहीम के समसामयिक थे और जिन्होंने 'रामचंद्रिका' जैसी रचनाओं को प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से भी लिखने का प्रयास किया था, इस प्रवृत्ति के एक प्रबल पोषक थे। ये एक दरबारी कवि थे और एक अच्छे योग्य पंडित भी थे जिस कारण इन्हें काव्यशास्त्र का विशेष परिचय था। श्रृङ्गार का वर्णन करते समय ये, रामचंद्र एवं सीता के संबंध में तो नहीं, किंतु राधा एवं कृष्ण के विषय में, मर्यादाओं के उल्लंघन से, अपने को बचा नहीं पाते थे। इनकी एक अन्य विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि, अन्य अधिकांश कवियों की भाँति, इन्होंने परकीया से अधिक स्वकीया को महत्त्व नहीं दिया। ये नायिकाओं की मनोवृत्ति का अध्ययन तो परम्परानुसार ही करते हैं, किंतु कभी-कभी ये नायकों की ओर भी विशेष दृष्टि रखने लग जाते हैं। इन पर 'कामशास्त्र' एवं 'नाट्यशास्त्र' इन दोनों का ही प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा दिखलाई देता है। किंतु, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो, केशवदास के वर्णन केवल अनुकरण मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत अनेक बातों में उन्होंने अपने अनुभव से भी काम लिया है। इनके कई लक्षणों में संस्कृत ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत कुछ विकास दीख पड़ता है और सखीकर्म एवं हावों की संख्या में तो उन्होंने स्पष्ट वृद्धि भी की है। फिर भी, प्रेम जैसे गंभीर विषय का वर्णन करते समय भी उन्होंने अपने उक्ति वैचित्र्य के मोह का सर्वथा परित्याग नहीं किया है जिससे अनुमान होता है कि उन्हें इसका व्यक्तिगत अनुभव न रहा होगा।

मतिराम कवि, इस विषय में, अधिक सफल समझे जा सकते हैं। इनमें केशवदास से कहीं अधिक वर्णन की स्पष्टता है और इनके लक्षणों में केवल परिचयात्मक पता ही नहीं दिया गया है, अपितु मनोवैज्ञानिक अध्ययन की भी चेष्टा की गई जान पड़ती है। मतिराम ने, श्रृङ्गाररस का वर्णन करते समय, उसका स्थायी भाव केवल उसी रति का होना बतलाया है जो 'तियपुरुष' का होता है जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने इस विषय में, भक्ति के आधार पर कल्पित किये जाने वाले भाव को

कदाचित्, कोई महत्त्व ही नहीं दिया है। वैष्णव भक्त कवियों ने प्रेम का महत्त्व दर्शाते हुए श्रृङ्गाररस विषयक भक्ति को 'उज्वलरस' का नाम दिया है तथा नायिका भेद के ज्ञान को प्रेमतत्त्व की पहचान के लिए, अनिवार्य मानकर उसके वर्णन के उदाहरणों में ब्रज की गोपियों की विविध चेष्टाओं का उल्लेख किया है। किंतु मतिराम ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। फिर भी, जहाँ तक नायिका भेद का प्रश्न है, ये सर्वश्रेष्ठ आचार्य तक कहे गए हैं और इनका ग्रंथ 'रस राग' इस विषय का सर्वमान्य ग्रंथ समझा गया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जो कुछ भी कहा है सीधे ढंग से कहा है और, जहाँ आवश्यक समझा है, उसके लिए प्रबल तर्क भी उपस्थित कर दिये हैं। वास्तव में मतिराम को अपनी भाषा को ललित और सशक्त बनाने की कला पर भी अच्छा अधिकार है और वे एक उच्चकोटि के श्रृङ्गारी कवि हैं। इस कोटि के अन्य कवियों में देव तथा दास एवं ग्वाल की भी गणना की जाती है जिनमें से प्रथम कवि ने नायिका भेद के विषय को सर्वाधिक विस्तार दिया है। देव अपने आचार्यत्व के विषय में मतिराम की अपेक्षा कहीं अधिक सचेत हैं और ये सदा नवीनता लाने के प्रयत्न में भी रहा करते हैं। दास एवं ग्वाल कवि जहाँ परम्परागत वर्गों में ही भेदोपभेदों की सृष्टि करने की चेष्टा करते हैं वहाँ देव कवि नये वर्गों के भी अन्वेषण में नहीं चूकते। देव कवि ने अपनी 'प्रेम चंद्रिका' द्वारा प्रेम तत्त्व का भी विशद वर्णन किया है और सर्वत्र शुद्ध स्वकीया के प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। उन्होंने संचारी भावों को भी तन संचारी एवं मन संचारी नामक दो भेदों के अनुसार विभाजित किया है जो अन्य आचार्यों की दृष्टि से सर्वथा नवीन कहा जा सकता है। फिर भी देव ने जितना ध्यान नायिकाओं के वर्गीकरण की ओर दिया है उतना नायक अथवा उसके सहायक वा दूती के सम्बन्ध में नहीं लिखा है।

दास कवि की, नायिका भेद के वर्गीकरण विषयक, एक विशेषता यह है कि अवस्थानुसार किये गए उनके भेद को फिर उन्होंने सम्भोग

शृङ्गार एवं वियोग शृङ्गार की दृष्टि से भी क्रम दिया है जो उनके पहले के किसी भी आचार्य कवि ने नहीं किया था।[1] वे अन्य बातों के भी वर्णनों में पूरी सावधानी के साथ चलते हैं और जान पड़ता है कि वे, प्रत्येक विषय पर गम्भीरता के साथ विचार करके ही, आगे बढ़ते हैं। फिर भी जितना ध्यान उनका अपने आचार्यत्व की सुरक्षा की ओर है उतना प्रेमतत्व के प्रकृत विषय को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने के प्रति नहीं है। ग्वाल कवि के नायिका भेद का वर्णन दास से अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है और वह उनसे कम सांगोपांग भी नहीं है। परकीया एवं गणिका के वर्णन को भी इन्होंने पूरा विस्तार दिया है। ग्वाल कवि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने राधा एवं कृष्ण को सामान्य नायिका एवं नायक के रूप में स्वीकार कर उनके वर्णन को अमर्यादित-सा बना डाला है। किंतु यह केवल इन्हीं की विशेषता नहीं है और इसका कारण भी तात्कालीन वातावरण की स्थिति में ढूँढ़ लिया जा सकता है। ग्वाल कवि ने अपने को राधा का उपासक तक बतलाया है और एक स्थल पर अपने शृङ्गारिक वर्णनों के लिए उनसे क्षमा याचना भी की है। उनका कहना है—

श्रीराधा पद पद्मकों, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराधकों, कियो जु कथन रसाल।

इस प्रकार इस कथन द्वारा उन्होंने इस अनुमान की सर्वथा पुष्टि कर दी है कि इन कवियों का युग ही ऐसा था जब ये वैसे वर्णनों के लिए बाध्य थे। ग्वाल कवि का जन्मस्थान वृन्दावन था, किंतु इनकी रहन-सहन वैभवशाली पुरुषों की सी थी और इनका सम्बन्ध रामपुर के नवाबों तक के यहाँ रहा करता था। शृङ्गाररस को ये अलौकिक रूप देते जान पड़ते हैं किंतु फिर भी ये उसके वर्णन में अपने को अश्लीलता के दोष से मुक्त नहीं कर पाते। इनका जीवन काल सं० १८४८ से लेकर

[1] शृंगार निर्णय, भारत जीवन प्रेस, काशी; सन् १८६५ ई०

सं० १९२५ तक है जो वस्तुतः मध्यकाल के बहुत पीछे चला जाता है। इनके पहले के आविर्भाव काल (सं० १७८५-१८०७) वाले आचार्य कवि दास को अपनी श्रृङ्गारिक रचनाओं की उत्कृष्टता पर पूर्ण विश्वास नहीं था और इसीलिए उन्होंने उनमें राधा एवं कृष्ण की चर्चा के आधार पर कहा था—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई,
नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

जिससे उस युग के कवियों की मनोवृत्ति का और भी स्पष्ट पता चलता है।

४

श्रृङ्गाररस की रचनाओं में हिन्दी कवियों ने जिस प्रकार नायिका भेद के वर्णनों द्वारा, स्त्रियों की मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार उन्होंने नखशिख वर्णन के आधार पर उनके रूप-सौंदर्य की व्याख्या करने में अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है। विद्यापति ने यहाँ पर भी संस्कृत कवियों द्वारा चलायी गई वर्णन-पद्धति का ही अनुसरण किया है, किंतु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी निरीक्षण शक्ति के बल पर कुछ नवीनता भी ला दी है। जैसा इसके पहले कहा जा चुका है, इन कवियों ने अपनी रचनाओं में किसी क्रम के अनुसार चलने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है। तदनुसार विद्यापति ने अपने ऐसे पदों में से कुछ में जहाँ 'पयोधर' से आरंभ किया है और फिर वे मुख, नेत्र और भौंह पर करने लगे हैं तो वे कहीं नेत्रों से ही आरंभ कर फिर नीचे ऊपर जाने लगते हैं केवल कुछ ही रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें उन्होंने किसी क्रम का उचित निर्वाह किया है अथवा जिनमें सभी प्रमुख अंगों पर ध्यान भी दिया है। इन वर्णनों में वे प्रायः रूपक एवं उत्प्रेक्षा से ही अधिक काम लेते हैं और बीच-बीच में नयी उद्भावनाएँ करते चले जाते हैं। अंगों के उपर्युक्त व्यतिक्रम का एक यह कारण भी हो सकता है कि किसी सुन्दरी को अचानक देखते समय उसके प्रत्येक अवयव को किसी एक ओर से ही निरीक्षण करते

चलना संभव नहीं। रूप सौंदर्य का वास्तविक अनुभव कभी प्रयोगशाला में किये जाने वाले वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा नहीं करता। वह प्रायः अकस्मात्, हो जाता है और इसके लिए केवल अधूरा देखना भी पूरा काम करता पाया जाता है। फिर किसी रमणी के सौंदर्य को प्रत्यक्ष आँकना भी सरल नहीं है और, कदाचित् इसी कारण, ऐसे अवसरों के लिए कवि को किसी आड़ की भी व्यवस्था करनी पड़ जाती है। कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में उसकी नायिका के सौंदर्य का अनुभव, उसके नायक द्वारा तरु लतादि की ओर से ही कराया है। विद्यापति ने अपने पदों की नायिका का रूप सौंदर्य वर्णन करते समय क्रम का अधिक निर्वाह वहाँ किया है जहाँ वे उसके 'सद्यःस्नाता' रूप का वर्णन करते हैं। साधारण स्थिति के वर्णनों में तो वे कभी-कभी किसी क्रम का उलट फेर करना तक भूल जाते हैं और सौंदर्य का भरपूर निरीक्षण न कर सकने के लिए पछताते भी हैं। उदाहरण के लिए अपने 'प्रेम प्रसंग' विषयक पदों में से एक में उन्होंने इस प्रकार कहा है—

सजनी, भल कए पेखन न भेल।

मेघ माल सँय तड़ित लता जनि, हिरदय सेल दई गेल॥इत्यादि॥

विद्यापति की 'पदावली' केवल मुक्तकों का संग्रह मात्र है जिस कारण उसमें किसी व्यवस्थित वर्णन का पाया जाना वैसा आवश्यक भी नहीं है।

सूफ़ी कवि जायसी ने जो 'पद्मावत' नामक प्रबंध काव्य की रचना की है उसमें उन्होंने इस प्रकार के वर्णनों को अधिक नियमित रखा है। उसमें प्रधानतः दो स्थल ऐसे हैं जहाँ उस प्रेमगाथा की नायिका पद्मिनी के नखशिख का वर्णन विस्तार के साथ आया है। एक स्थान पर 'सुवा' राजा रतनसेन से उसके रूपसौंदर्य की प्रशंसा करता हुआ, उसके 'सिंगार' वर्णन में प्रवृत्त होता है और फिर क्रमशः उसके 'केस', 'मांग', 'लिलार', 'भौंह', 'नैन', 'बरुनी' 'नासिक', 'अधर', 'दसन', 'रसना', 'कपोल', 'स्रवन', 'गीउ', 'भुज', 'कुच', 'पेट', 'पीठि', 'लंक' 'नाभिकुंड' एवं 'नितम्ब' तथा 'जंघ' और 'चरणों' तक के विषय में कहता चला जाता है।

वह इन सभी अंगों का वर्णन करता हुआ उन पर धारण किये गए अलंकारों तक की चर्चा करना नहीं भूलता और फिर भी कहता है—

बरनि सिंगार न जानऊँ नखसिख जैस अभोग।

जो उस नायिका की मनोहरता को अधिक बढ़ाने की ओर संकेत सा सूचित होता है। दूसरा इस प्रकार का वर्णन वहाँ आता है जहाँ राघव चेतन उसकी प्रशंसा करता हुआ दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को उसकी ओर आकृष्ट करना चाहता है। इस नखशिख वर्णन की एक विशेषता यह है कि इसमें पहले पूरी 'काया' के ही सौंदर्य से आरंभ किया जाता है और सबके अंत में उसकी सुकुमारता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करके अपनी उक्ति अचानक समाप्त कर दी जाती है। इसके सिवाय इस दूसरे वर्णन में कतिपय अंगों को छोड़ भी दिया गया है और कुछ की ओर केवल थोड़ा-सा ही ध्यान देकर उसे चलता-सा कर दिया गया है। इसमें बरुनी, पेट, पीठ, नाभि एवं नितम्बादि के स्पष्ट उल्लेख नहीं है और मुख एवं केश तथा कपोल एवं श्रवण के वर्णनों के क्रम को उलट भी दिया गया है। इन दोनों सौंदर्य-वर्णनों के सुनने वाले क्रमशः राजा रतनसेन तथा सुलतान अलाउद्दीन इन्हें सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। विद्यापति के वर्णनों की अपेक्षा ये दोनों अधिक पूर्ण हैं। इनमें प्रबंध कल्पना के विचार से प्रत्येक बात को विस्तृत रूप देने की चेष्टा की गई है। इसमें अत्युक्तियों की भी भरमार उनसे अधिक मात्रा में है। जायसी यहाँ ऐसी नायिका का वर्णन कर रहे हैं जो अपने सौंदर्य में केवल अपूर्व ही नहीं प्रत्युत सर्वथा 'अलौकिक' भी है। यह उस परमात्मा की प्रतीक है जिसे वे अपने सर्वात्मवाद की दृष्टि से सर्वत्र व्यापक मानते हैं। इसी कारण वे उसके हँसते ही चंद्रकिरण की आभा द्वारा सरोवर के कुमुद पुष्पों को खिला देते हैं और उसके सामने आते ही उस सरोवर को उसका 'दर्पण' भी बना देते हैं जिस कारण सरोवर में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सभी उस रमणी के विविध सुन्दर अंगों की प्रतिबिम्ब बन उठती हैं। राजा रतनसेन एवं सुलतान अलाउद्दीन का सौंदर्य-वर्णन

सुनकर सहसा मूर्छित हो जाना भी इसी बात की ओर संकेत करता है कि परमात्म तत्त्व के 'नूर' की भी केवल भावना ही पर्याप्त होती है। उसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन अपेक्षित नहीं है, सद्गुरु वा पीर द्वारा किया गया उसका यथोचित वर्णन ही किसी साधक को बेसुध कर दे सकता है। ये वर्णन किसी रमणी के शारीरिक सौंदर्य का आश्रय लेते हैं इस कारण इन्हें परम्परागत प्रणाली के अनुसार निभाना पड़ता है, और जायसी ने भी यही किया है। यह वस्तुतः उस 'अरूप' के सौंदर्य का परिचय है जिसका वर्णन 'अनिर्वचनीय' जैसे शब्दों द्वारा किया जाता है। संत कवियों की दृष्टि में यह अनावश्यक और भ्रांतिपूर्ण भी है।

परमात्मा के अनुपम अथवा अलौकिक सौन्दर्य की झाँकी सगुणवादी कवियों ने, अपने अवतारवाद के आधार पर दिखायी है। सूरदास के श्रीकृष्ण स्वयं परमात्म रूप हैं और वे भक्तों के लिए अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनकी शक्ति वा प्रकृति ही राधा के रूप में अवतरित हुई हैं। यह राधा उनकी प्रेमपात्री एवं प्रेमिका बनकर उनकी लीलाओं में सहयोग प्रदान करती हैं, इस कारण उसके सौन्दर्य का भी अनुपम होना अनिवार्य है। विद्यापति ने राधा को, संभवतः, इस दृष्टि से देखने का कभी प्रयत्न नहीं किया है, किंतु फिर भी इन दोनों कवियों के ऐसे वर्णनों में विशेष अन्तर नहीं है। सूरदास तथा अन्य वैसे सगुणवादी कवियों ने जितना ध्यान श्रीकृष्ण के सौंदर्य की ओर दिया है उतना उन्होंने राधा के रूप-वर्णन का प्रयत्न नहीं किया है। विद्यापति ऐसा करते नहीं दीख पड़ते जिस कारण उनके श्रीकृष्ण एवं राधा का प्रकृत नायक और नायिका होना अधिक सम्भव बन जाता है। सूरदास ने, राधा की छवि का कुछ वर्णन करते समय, रास-क्रीड़ा के अवसर का चित्र अंकित किया है जिसके लिए वह बनठन कर उपस्थित हुई जान पड़ती है। वहाँ के एक पद में उन्होंने उसके नखशिख की चर्चा जहाँ, उसकी बेनी से आरम्भ कर कुच तक, समाप्त की है वहाँ दूसरे पद में उसे 'पग की जेहरी' से वे आरम्भ करते हैं और ऊपर की ओर उसके 'आंछिले

कपोल' तक ले आकर छोड़ते हैं। इन पदों के वर्णनों में अंगों से अधिक ध्यान आभूषणों की ही ओर है। नन्ददास भी जहाँ प्रेमलीला का वर्णन करते हैं वहाँ सखियों द्वारा श्रीकृष्ण का ध्यान राधा के आभूषित शरीर की ही ओर दिलाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु तुलसीदास अपने 'रामचरितमानस' में इस प्रकार का नखशिख वर्णन करते नहीं पाये जाते और जहाँ वे इस पद्धति का अनुसरण करते हैं वहाँ भी केवल थोड़ा-सा ही कथन करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कह उठते हैं कि सीता तो स्वयं 'जगदम्बिका' हैं और सारे गुणों एवं रूप सौंदर्य की खान हैं 'उनके सम्बन्ध में मुझे सारी उपमाएँ हीन प्रतीत होती हैं, क्योंकि वे बहुधा 'प्राकृत' स्त्रियों के अङ्गों के ही लिए प्रयोग में लायी जाती हैं और संसार में कौन सी ऐसी स्त्री है जो उनके समान सुन्दर है। यदि सुन्दरी देवियों की उपमा दी जाने लगे तो वह भी अनुपयुक्त ही ठहरेगी। सरस्वती बहुत अधिक बोलने वाली हैं, पार्वती का शरीर ही पूर्ण नहीं, रति अपने पति के 'अनङ्ग' होने से ही दुःखिनी है और स्वयं लक्ष्मी तक के भाई बन्धु विष एवं वारुणी ही कहे जाते हैं।' इसलिए वे कहते हैं —

जौ छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पङ्कज निज मारू।
येहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल ॥२४७॥

तुलसीदास ने रामचन्द्र के रूप-सौंदर्य का वर्णन तो नखशिख पद्धति के अनुसार भी अनेक स्थलों पर किया है, किंतु सीता के विषय में वे प्रायः मौन धारण ही कर लेते हैं। रामचन्द्र के विषय में वे कभी शिख से नख तक चलते हैं, कभी इस क्रम को उलट देने की भी चेष्टा करते हैं और शरीर के गठन सौंदर्य का विशेष ध्यान रखते हैं। अन्य कवि अधिकतर चमक-दमक, अङ्गों के व्यापार अथवा उनके विविध आभूषणों को ही महत्त्व देते हैं। इस बात में तुलसीदास ने वाल्मीकि का भी

अनुसरण किया है और अपने को फ़ारसी साहित्य के प्रभाव में प्रचलित परम्परा से बचा लिया है।

शृङ्गारी कवियों में बिहारी एवं पद्माकर को हम तात्कालीन वर्णन पद्धति से अधिक प्रभावित पाते हैं। चाहे नायिका का सौंदर्य हो अथवा उसका सौकुमार्य अथवा उसके विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों की चेष्टाओं का ही चित्रण करना हो ये अपने समय के वातावरण द्वारा अवश्य प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इसी कारण, उनके चित्रों में हमें अतिरञ्जन भी विशेष मात्रा में दीख पड़ता है। बिहारी लाल ने अपनी 'सतसई' में केवल दोहे अथवा सोरठे ही लिखे हैं जो बहुत छोटे-छोटे छन्द होते हैं और जिनमें नखशिख-वर्णन का पूरा-पूरा आ जाना असम्भव है। वे इसी कारण, कभी-कभी केवल एक ही अङ्ग को ले लेते हैं और बहुत कम स्थल ऐसे होंगे जहाँ उन्होंने एक से अधिक पर भी दृष्टि डालने का प्रयत्न किया हो। नायिका के नेत्रों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है और कहीं-कहीं केश, जंघा, त्रिवली, नाभि आदि के विषय में भी विविध कल्पनाएँ की हैं। इसी प्रकार वे उसकी मुद्राओं का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया करते हैं और ऐसे स्थलों पर उसकी मनोवृत्ति का भी परिचय दिला देते हैं। फिर भी उनके वयःसन्धि वाले वर्णन में हमें जहाँ 'सिसुता' एवं 'जोवन' की 'झलक' मात्र की ही प्रधानता दीखती है वहाँ ऐसे अवसरों पर विद्यापति ने नायिका की मनोदशा को भी चित्रित कर दिया है। पद्माकर ने नखशिख का वर्णन करते समय अधिकतर कवित्त और सवैया जैसे लम्बे छन्दों के प्रयोग किये हैं जिस कारण उन्हें अधिक स्थान मिला है। फिर भी ये अपना ध्यान शरीर के प्रत्येक अङ्ग को किसी क्रम विशेष में रखने का प्रयत्न बहुत कम करते हैं। इन्होंने अधिकतर उन्हीं अङ्गों को लिया है जो कामोद्दीपन के प्रमुख आधार हैं और जिनसे केवल प्रेमभाव के विकास एवं वृद्धि मात्र में ही सहायता नहीं मिलती। जान पड़ता है कि पद्माकर एवं ग्वाल पर कामशास्त्रीय परम्परा का प्रभाव बिहारी अथवा केशव से भी अधिक पड़ा है।

केशवदास ने अपना नखशिख वर्णन करते समय, आचार्यों की भाँति, लिखा है। वे ऐसे वर्णनों के दो भेद भी करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार के वर्णनों में यदि स्त्री किसी 'देवी' की कोटि की हो तो उसके नख से आरंभ करके शिख तक जाना चाहिए, किंतु यदि वह केवल 'मानुषी' ही हो तो, इसके विपरीत, शिख से आरंभ कर उसके नख तक आना उचित होगा। राधा को वे 'हरिदेव' की भी 'इष्टदेवता' समझते हैं और इसी कारण, अपनी नखशिख वाली रचनाएँ उनके 'पद पंकज' के ही वर्णन से आरंभ कर उनके 'केशपास' तक पहुँचते हैं और इसके बीच में वे केवल अंग विशेष की ही चर्चा नहीं करते, प्रत्युत उसपर धारण किये गए आभूषणों तथा कभी-कभी उनकी चेष्टाओं का भी चित्रण कर देते हैं। अपनी इस रचना के अंत में उन्होंने एक पद्य के अंतर्गत 'समस्त भूषणों' का वर्णन कर फिर 'प्रत्यङ्ग सौरभ' की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है और राधा को "मदन मन्त्र की सिद्धि प्रेम की पद्धतिपूरी" ठहराते हुए उसे 'भ्रज बाधा हरनि' भी कहा है।[1] किंतु केशवदास के अग्रज कहे जाने वाले बलभद्र कवि ने अपनी नखशिख-वर्णन वाली रचना का नाम ही 'शिखनख' रखा है और वे अपने कवित्तों द्वारा नायिका के केशों से ही आरम्भ करते हैं। वे फिर उसकी 'पाटी', 'वेणी' और 'मांग' तक का वर्णन पृथक्-पृथक् करते हैं और इसी प्रकार इसके आगे भी उसके प्रत्येक अंग का सविवरण परिचय देने लग जाते हैं। वे अन्त में, संपूर्ण शरीर पर भी दृष्टिपात करते हैं तथा 'सोरह श्रृङ्गार' एवं 'बारह आभरण' तथा सुकुमारता एवं स्वभाव तक का वर्णन किये बिना नहीं रहते। बलभद्र कवि उन आचार्यों में गिने जाते हैं जिन्होंने श्रृङ्गाररस के विविध अंगों को स्वतन्त्र विषय बनाकर लिखने की परिपाटी चलायी थी। बहुत से भक्तकवियों ने तो अपने इष्टदेव के किसी अंग विशेष की ही प्रशंसा में पृथक् लिखने के प्रयत्न किये जिनके उदाहरणों में रामचन्द्र

---

[1] केशोदासकृत 'नखशिख', भारत जीवन प्रेस, बनारस, सन् १८६६

पंडित की 'चरण चन्द्रिका' तथा गोविन्द गिल्लाभाई की 'श्रीराधा मुख षोडशी' जैसी रचनाओं के नाम लिये जा सकते हैं। नागरीदास ने नख-शिख का वर्णन नख से शिख तक के क्रम से किया है और फिर अन्यत्र शिख से लेकर नख तक को भी इसके विपरीत क्रम में पृथक् किया है। किंतु वे भी वस्तुगत सौंदर्य की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। देव कवि प्रत्येक अंग का पृथक्-पृथक् वर्णन अधिक रुचि के साथ करते जान पड़ते हैं और वे उनकी संख्या की ओर उतना ध्यान नहीं देते। ऐसा लगता है कि नखशिख वर्णन की पुरानी पद्धति की ओर आकृष्ट न होकर इधर के कवि क्रमशः उसे भुलाने तक लगे थे। ग्वाल कवि की शृङ्गारिक रचनाओं के लिए यहाँ तक बतलाया गया है कि उनमें नखशिख का वर्णन उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किया गया भी नहीं प्रतीत होता।

इसके पहले प्रसंगवश कहा जा चुका है कि प्रेमभाव को उद्दीप्त करने में प्राकृतिक वातावरण का भी हाथ रहा करता है। इसलिए विद्यापति से लेकर उनके पीछे आने वाले मध्यकालीन कवियों ने भी, अपनी शृङ्गारिक रचनाओं में, प्राकृतिक दृश्यों एवं घटनाओं का परम्परानुसार वर्णन किया है। ये उनकी चर्चा न केवल पूर्वानुराग के ही प्रसंग में करते हैं, प्रत्युत उन्हें विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन में भी अधिक महत्त्व देते हैं। ऐसे वर्णन नायक एवं नायिका के विलासप्रिय जीवन की भी झाँकी प्रस्तुत करते हैं और उनके आमोद-प्रमोद का चित्रण बन जाते हैं। ये कवि प्रकृति को स्वतंत्र वस्तु के रूप में ग्रहण कर उसके रूप का यथातथ्य अंकन करना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। संस्कृत कवियों ने भी सदा ऐसा नहीं किया था और वाल्मीकि तथा उनके पीछे के कालिदास और भवभूति जैसे एकाध को छोड़कर दूसरों ने कभी ऐसा करना उचित नहीं माना था। किंतु विद्यापति में वह पुरानी प्रवृत्ति कुछ अंशों तक दीख पड़ती है और वह सराहनीय भी कही जा सकती है। विद्यापति ने अपनी पदावली में षड् ऋतुओं में से वसन्त एवं पावस के वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया है। वे बारहमासे की भी रचना करते हैं जो उनके विरह वर्णन का अंग बनता है

और वह आषाढ़ मास से लेकर क्रमशः जेठ तक चला जाता है। उनके बारहमासे में कोई बात उल्लेखनीय नहीं जान पड़ती। किंतु वसंत-वर्णन में वे विशेष रुचि लेते हैं। इस ऋतु का चित्रण करते समय वे वस्तुगत सौंदर्य को भी नहीं भूलते। यह ऋतु उनके लिए भी वैसा ही 'ऋतुराज' है जैसा अनेक अन्य कवियों के लिए रहता आया है और वे कभी-कभी इसे 'नृपति' के रूप में दिखलाते भी हैं। जिस समय वे इसे 'नवलकिसोर' नायक श्रीकृष्ण के विहार का उपयुक्त वातावरण ठहराते हैं उस समय वे स्वयं भी उन्मत्त-से हो जाते हैं। वसंत को वे कभी-कभी होली की क्रीड़ाओं के साथ भी चित्रित करते हैं, किंतु वहाँ उनमें कोई नवीनता नहीं दीख पड़ती। पावस का वर्णन करते समय वे जहाँ विरहिणी नायिका की चिंता एवं ईर्ष्या का पता देने लगते हैं वहाँ उनके शब्दों में बहुत कुछ स्वाभाविकता का रंग आ जाता है।

किंतु विद्यापति के अनंतर आने वाले कवियों की रचनाओं में फिर उस प्रकार का चित्रण प्रायः बहुत कम दीख पड़ता है। भक्तिकाल के कवियों में से सूफ़ियों ने अधिकतर अत्युक्तिपूर्ण वर्णन को ही उच्च स्थान दिया है और सगुणवादियों ने भी अपनी परम्परा का ही पालन किया है। जायसी ने, अपनी कल्पना के बल पर विरहिणी के विरहताप के कारण सारी सृष्टि को ही दग्ध-सा कर डाला है। एक स्थल पर वे यहाँ तक बतलाते हैं कि 'मेघों में जो श्यामता दीख पड़ती है वह इसी के कारण है। राहु एवं केतु इसी की ज्वाला के प्रभाव में आकर काले पड़ गए हैं, चंद्रमा खंडित रूपों में दीख पड़ता है, पलास के फूल अंगारों जैसे लाल बन गए हैं और सूर्य तक की गर्मी का कारण विरह-ताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।' प्रेम के कारण योगी बने हुए राजा रतनसेन के विरह पीड़ित हृदय का प्रभाव भी कुछ कम नहीं है जिसका प्रमाण प्रत्येक वस्तु में प्रत्यक्ष है। इसके सिवाय नागमती की आँखों से जो अश्रुधार चली है उससे सारी सृष्टि भीगी हुई ही प्रतीत होती है। वह नागमती रानी होती हुई भी विरह के आवेश में

विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं के सामने अपनी दुःखगाथा कहती फिरती है और इससे सभी प्रभावित भी जान पड़ते हैं। मनुष्य द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं में अपने आभ्यंतरिक भावों के इस प्रकार आरोप करने तथा अनुभव करने की यह प्रणाली नयी नहीं थी। संस्कृत एवं फ़ारसी के साहित्यों में इसके उदाहरण पहले से ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। इन कवियों के लिए वे आदर्श बन गए। सूफ़ी कवियों की रचनाओं में रूपक प्रयोग की शैली का अनुमान कर कुछ आलोचकों ने उनकी अत्युक्तियों को उतना बुरा नहीं माना है। परन्तु वस्तुस्थिति के स्वाभाविक चित्रण को यथोचित महत्त्व प्रदान करने वाले काव्य-रसिकों को उनका ऐसा कथन करना समीचीन नहीं जान पड़ता। ये कभी-कभी उनकी वैसी उक्तियों को पक्षपात पूर्ण तक समझ लेते हैं। जायसी की यह प्रवृत्ति अन्य सूफ़ी कवियों तक ही सीमित नहीं जान पड़ती, यह सूरदास एवं तुलसीदास जैसे कवियों की रचनाओं में भी लक्षित होती है। दोनों में अंतर केवल इतना ही है कि सूफ़ी कवियों में जहाँ रूपक योजना की दुहाई दी जाती है वहाँ सगुणवादी कवियों के विषय में इष्टदेव की 'लीला' की ओर संकेत किया जाता है। फिर भी जायसी एवं तुलसी ने जहाँ सरोवर, पर्वत एवं नदी जैसी प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन किये हैं वहाँ वे कभी-कभी स्वाभाविक चित्रण की ओर भी प्रयत्नशील हैं और उन्हें ऐसे स्थलों पर अच्छी सफलता भी मिली है। सूरदास की रचनाओं में इस प्रकार के दृश्य बहुत कम देखने में आते हैं जिसका कारण यह भी हो सकता है कि उनके मुक्तकों में इन्हें पृथक् करने की, कदाचित्, आवश्यकता ही नहीं पड़ती। तुलसीदास ने अपने वर्षा-वर्णन जैसे कुछ स्थलों पर प्राकृतिक व्यापारों में मानवीय स्वभाव का आरोप किया है जो उनकी उपदेश प्रियता को सिद्ध करता है।

प्रकृति-चित्रण में प्रवीण हिंदी-कवियों में सेनापति एवं बिहारी के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। ये दोनों कवि समकालीन थे और दोनों की रचनाओं में उनके वातावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित

होता है। इन दोनों ने अपने समय की प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया है किंतु प्रतिभा एवं रुचि के अनुसार इन दोनों के चित्रणों में कुछ विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं। प्राकृतिक वस्तुओं, दृश्यों तथा घटनाओं को इन दोनों कवियों ने परम्परानुसार उद्दीपन का ही साधन माना है और उनसे पड़ने वाले प्रभावों की ही ओर विशेष ध्यान दिया है। ऐसे वर्णनों के लिए आलंकारिक भाषा के प्रयोग में भी इन्होंने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इसके सिवाय जहाँ तक प्रकृति के ऊपर मानवीय स्वभाव के आरोप तथा उसकी मनुष्य के प्रति सुखदुख में सहानुभूति का प्रश्न है, इन दोनों में ही इसके उदाहरण मिलते हैं। किंतु सेनापति एवं बिहारी की ऐसी रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हमें इन दोनों में कुछ अंतर भी दीख पड़ता है। इस अंतर का कारण अधिकतर इस बात में ढूँढ़ा जाता है कि सेनापति ने जो वर्णन किये हैं उनमें उनके कवित्त छंद के अनुसार अधिक विस्तार का अवसर मिल गया है जहाँ बिहारी के छोटे-छोटे दोहों में स्वभावतः सभी बातें चुनकर तथा संक्षिप्त करके रखी गई हैं। किंतु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि सेनापति को अपने बड़े छंदों से अधिक लाभ ही हुआ होगा और बिहारी अपने छोटे छंदों के बन्धन में पड़ गए होंगे। लम्बे छंदों में कवियों को अनिवार्यतः वर्णन शैली की व्यास-पद्धति स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें विषय विस्तार के कारण कहीं न कहीं उनके कुछ हलका पड़ जाने की भी आशंका रहती है जहाँ, इसके विपरीत उसकी समास शैली के अपनाने में इस बात का उतना भय नहीं रहा करता। यहाँ पर जो कठिनाई आती है वह केवल शब्दों के प्रयोगों में विशेष सावधानी एवं सजावट आदि से ही सम्बन्ध रखती है।

नीचे हम इन दोनों कवियों के ऋतुवर्णन-संबंधी दो ऐसे उदाहरण दे रहे हैं जिनमें उनकी विभिन्न शैलियों का परिचय मिल सकेगा। इनमें से प्रथम सेनापति का कवित्त है जिसमें उन्होंने शीतकाल के प्रभाव का वर्णन बड़ी कुशलता के साथ किया है—

सीतको प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल, गयो सूर सियराइ कै।
हिमके समीर,तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन में जाइ कै॥
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं
हिये सों लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौ भीत जानि महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाय कै ॥४५॥

सेनापति ने यहाँ पर शीत के प्रभाव का न केवल सूर्य, अग्नि एवं समीर पर ही, पड़ना दिखलाया है, अपितु उन्होंने, इसके कारण जन साधारण की मनोदशा में लक्षित हो सकने वाले तदनुरूप भावों की भी सुन्दर कल्पना की है। इसी प्रकार विहारी के निम्नलिखित दोहे में ग्रीष्म ऋतु के प्रभाव का वर्णन, केवल थोड़े से ही शब्दों द्वारा, बड़े अच्छे ढंग से किया गया है—

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौं कियौ, दीरघ दाघ निदाघ ॥

विहारी ने यहाँ पर ग्रीष्म ऋतु के कारण सारे संसार को ही तपोवन के रूप में परिवर्त्तित हो गया हुआ बतलाया है। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने छोटे से दोहे में सर्प एवं मयूर तथा मृग एवं बाघ जैसे परस्पर विरोधी जीवों के एकत्र हो जाने के दो दृष्टांत भी दे दिये हैं। सेनापति ने, ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते समय भी, उसके प्रभाव की कल्पना बड़े सजीव चित्रण के आधार पर की है।

मध्यकाल के आचार्य कहे जाने वाले कवियों ने भी अपनी रचनाओं के अंतर्गत प्रकृति चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी विशेषता केवल इस बात में देखी जाती है कि वे पहले से आती हुई परम्परा के पालन में अन्य कवियों से अधिक सावधान दीख पड़ते हैं। कभी-कभी तो वे अपने रीति संबंधी ग्रंथों में इस बात के संकेत भी कर देते हैं कि

अमुक वस्तु के वर्णन में अमुक विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरण के लिए केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' के अंतर्गत, किसी तालाब का वर्णन करते समय, कतिपय बातों का उल्लेख आवश्यक माना है; जैसे,

ललित लहर, बग, पुष्प, पशु, सुरभि समीर, तमाल।
करम केलि पंथी प्रगट, जलचर बरनहु ताल॥

उन्होंने उस रचना के अनेक स्थलों पर अपने ऐसे सुझावों के अनुसार स्वयं भी काम किया है और विविध वस्तुओं के नाम तक गिना डाले हैं। कभी-कभी, ऐसा करते समय वे इस बात पर भी ध्यान नहीं रख सके हैं कि अमुक वस्तु का अमुक स्थान पर पाया जाना सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। वास्तव में केशवदास अपने को प्राकृतिक वस्तुओं में पूर्णतः रमा नहीं पाये हैं और ये उन्हें दूर से ही, और स्थूल रूप से, देखते जान पड़ते हैं। इस बात में यह कवि अपने पूर्ववर्ती विद्यापति के सामने बहुत साधारण कोटि में आ जाता है। केशवदास के अनंतर देव कवि ने भी अपनी रचनाओं में आचार्यत्व के प्रदर्शन की चेष्टा की है और ये विस्तार की ओर भी ध्यान देते जान पड़ते हैं। फिर भी इनकी पंक्तियों में कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जहाँ इन्होंने अपने वर्णन-कौशल द्वारा कई दृश्यों के जीते-जागते चित्र प्रस्तुत कर दिये हैं। ऐसे अवसरों पर ये प्राकृतिक वस्तुओं को केवल उद्दीपन की सामग्री ही मानते हुए नहीं प्रतीत होते, प्रत्युत उनका सूक्ष्म निरीक्षण कर उनके वायुगत सौंदर्य का भी परिचय दे देते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने, अपनी निम्न-लिखित पंक्तियों में, क्रमशः शरद ऋतु की चांदनी तथा समीर द्वारा प्रभावित लता के चित्रण में अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है

(१) उमड्यो परत जोति मंडल अखंड सुधा,
मण्डल मही में इन्दु मण्डल विवरतें।
(२) रंगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनिसों।

मध्यकाल के अंत में आने वाले ग्वाल कवि ने जहाँ अपने आचार्यत्व

के प्रदर्शन की चेष्टा की है वहाँ उन्होंने ऋतु वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उन्होंने ऐसे स्थलों पर पहले प्रत्येक ऋतु का लक्षण दिया है और तब उसके वर्णन का प्रयत्न, उद्दीपन एवं आलंबन विभावों की दृष्टि से किया है।

इस प्रकार, केवल कतिपय उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर भी, यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल की हिंदी-रचनाओं में हमें श्रृंगारिक प्रवृत्तियों का वर्णन और विवेचन सदा एक ही प्रकार का नहीं दीख पड़ता और वह बहुत कुछ विभिन्न कवियों की अभिरुचि पर ही निर्भर जान पड़ता है। ऐसे कवियों की मनोवृत्ति उनकी शिक्षा, संस्कार, वातावरण, आदि अनेक विशेषताओं के आधार पर निर्मित रहा करती थी जिनके परिणाम का लक्षित हो जाना अनिवार्य था। वे अपनी कविताओं में उनका प्रदर्शन स्वभावतः कर जाते थे और उनके वर्ग वाले कवियों में से कदाचित् ही कोई इस नियम के विरुद्ध जा पाता था। फलतः विद्यापति से लेकर ग्वाल कवि तक की रचनाओं में इस बात के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। विद्यापति, केशवदास एवं ग्वाल तीनों ही श्रृङ्गारी कवि थे और तीनों का ही किसी न किसी दर्बार का सम्बन्ध अवश्य रहा। किंतु इन तीनों के आविर्भाव कालों में एक दूसरे से अंतर था। विद्यापति विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के एक मैथिल राजदर्बार के कवि थे और उनके समय तक वहाँ मुस्लिम प्रभाव भी अधिक नहीं था। इस कारण उनकी रचनाओं में हमें पौराणिक संस्कृति का परिचय कुछ विशेष मात्रा में मिलता है। इसके विपरीत केशवदास उसी संवत् की सत्रहवीं शताब्दी के मुग़लकालीन बुंदेलखंड के दर्बारी कवि थे जिनके समय तक वैभव विलास में बहुत परिवर्त्तन हो चुका था। इसलिए इनकी रचनाओं में हमें विद्यापति कालीन विशेषताओं का वैसी मात्रा में ढूँढ़ना उचित नहीं। विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के रामपुर वाले नवाब के दर्बारी कवि ग्वाल के समय तक तो उक्त परिवर्त्तन में और भी अधिक विकास हो गया था। विद्यापति के समय में श्रृङ्गारिक नग्नता केवल इस

कारण ही चित्रित की जा सकती थी कि उस काल के कवि अपनी साहित्यिक परम्परा का पालन करते थे। किंतु ग्वाल के समय तक वह दैनिक जीवन में भी उतर चुकी थी। शृङ्गारिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक मोड़ देने का साहित्यिक प्रयास भक्तिकाल में अवश्य किया गया, किंतु उसमें पूरी स्थायी सफलता नहीं मिल सकी। सूफ़ी एवं सगुणवादी कवियों के क्षेत्र ऐसे थे जिनसे होकर चलते समय अपने को आस-पास के वातावरण से अछूता बचा ले जाना सरल नहीं था और इस बात के उदाहरण हमें यदाकदा उन रचनाओं में मिल भी जाते हैं जो कृष्णभक्तों एवं प्रेमगाथा के सूफ़ी कवियों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। केवल रामभक्त तुलसीदास एवं निर्गुणी संत ही ऐसे थे जिन्होंने या तो मर्यादा का आश्रय ग्रहण किया अथवा इस ओर अधिक प्रयत्न ही नहीं किया।

नव निबंध

काव्य में वातावरण और व्यक्तित्त्व

१

फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-समालोचक सांत वोव (sainte-Beuve) सं० १८६१-१९२६, का कहना था कि समालोचक को अपने समालोच्य ग्रंथ के रचयिता के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही उसकी समालोचना आरंभ करनी चाहिए। वह स्वयं भी इसी नियम का अनुसरण करता था। समालोच्य ग्रंथ के लेखक की मानसिक, नैतिक वा शारीरिक स्थिति की वह सर्वप्रथम, कुछ न कुछ जानकारी पा लेता और तब कहीं उसमें हाथ लगाता तथा अपनी उपलब्ध सामग्री के आधार पर एक ऐसा मनोहर चित्र खींच देता जो किसी पाठक के हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता। अन्य समालोचकों के विषय में चाहे यह बात चरितार्थ हो वा न हो, किंतु सांत वोव इसके लिए साहित्य-संसार में विख्यात है कि समालोचक अपनी उंगली जिस मार्ग की ओर उठाता है उस ओर प्रत्येक पाठक को जाना पड़ता है। सफल समालोचना एक प्रकार का चश्मा है जिसके रंग के अनुसार ही बहुधा किसी ग्रंथ की अच्छाई वा बुराई का पता चल पाता है। सांत वोव अपने उक्त नियम को ग्रंथकार के 'मानसिक विकास का प्राकृतिक इतिहास'[१] कहा करता था। परंतु इससे उसका तात्पर्य यह नहीं था की समालोचक को अपने ग्रंथकार के जन्म से लेकर उसके मरणपर्यंत की बातों का पूरा विवरण जानकर ही अपनी

१ 'The Natural history of minds' दे० 'Essays by Sainte Beauve' Introduction, पृ० १६)

लेखनी उठानी चाहिए और न यही कि उसे मनोविज्ञान के नियमानुसार पहले उसके मस्तिष्क एवं हृदय की परीक्षा कर लेनी चाहिए। अपने समकालीन ग्रंथकारों की पुस्तकों पर कुछ लिखते समय वह उनके साथ भेजे गये पत्रादि वाले समाधानों पर स्वयं भी विशेष ध्यान नहीं देता था। उनके उत्तर में बहुधा लिख देता की समालोचक को आलोच्य ग्रंथ से ही काम रहता है, ग्रंथकार से नहीं। उसके लिए ग्रंथकर्त्ता अथवा उसकी परिस्थिति के विषय में केवल उतना ही ज्ञान आवश्यक है जितना कि उस ग्रंथ-विशेष से प्रत्यक्ष संबंध रखता हो। इसी प्रकार ऑस्कर वाइल्ड (Oscar wilde) पर अपना आलोचनात्मक निबंध लिखते समय एक अँग्रेज लेखक ने किसी ग्रंथकार की कृति को उस एक पिटारी के सदृश माना है जिसकी ताली उसके मालिक के ही साथ खो गई हो और, इसी कारण, जिसके खोलने के लिए अथवा जिसके भीतर की वस्तुओं को थोड़ा बहुत जानने के लिए उक्त मालिक द्वारा छोड़े हुए कतिपय संकेतों का सहारा लेना पड़ता हो। भिन्न-भिन्न लेखकों वा कवियों के जीवन की घटनाएं कभी- कभी, इसी कारण, बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं और प्राचीन ग्रंथकारों के जीवन-वृत्तों की खोज भी अधिकतर उपर्युक्त उद्देश्य से ही की जाती है।

फिर भी, उपर्युक्त नियम साहित्य के सभी अंगों पर ठीक एक ही प्रकार लागू नहीं हुआ करता। दार्शनिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक वा निबंध-विषयक ग्रंथों पर उनके रचयिताओं की परिस्थिति का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ता जितना कि उन कल्पना-प्रधान रचनाओं पर दीखता है जो काव्य की श्रेणी में गिनी जाती हैं। प्रथम वर्ग की पुस्तकों की रचना का उद्देश्य क्रमशः सत्य का अन्वेषण, प्राकृतिक नियमों का स्पष्टीकरण, विगत घटनाओं का वर्णन अथवा इसी प्रकार की विविध बातों का निरूपण आदि हुआ करता है, नवीन किंतु दूसरी कोटि की पुस्तकों के विषय में यह बात नहीं है, यहाँ पर एक नितांत नवीन सृष्टि देखने को मिलती है, जिसके निर्माता का प्रभाव उसके प्रत्येक अंग पर लक्षित

होता है। इस विचार से पहले ढंग की रचनाओं को जहाँ हम स्वाभाविक कहेंगे वहाँ दूसरे वर्ग वाली कृत्रिम की श्रेणी में रखी जायगी, क्योंकि इसकी प्रत्येक पंक्ति का आधार बहुधा भावनासृष्ट वा काल्पनिक ही प्रतीत होगा। इतिहास एवं काव्य की तुलना करते समय इसीलिए अरस्तू ने बतलाया है कि पहले का उद्देश्य जहाँ किसी व्यतीत घटना का हाल कह देना है वहाँ दूसरे का काम अघटित घटनाओं के साध्य होने वा न होने की ओर संकेत करना है। इसका क्षेत्र इतिहास वाले से कहीं अधिक विस्तृत है और, इसी कारण, कविता सार्वलौकिक भी समझी जाती है।

वास्तव में, सच्ची कविता का देश, काल अथवा समाज परिमित नहीं हुआ करता; वह सब के लिए एकसी होती है। काव्य के वास्तविक तत्त्व को किसी प्रकार की भी परिस्थिति का प्रभाव स्पर्श नहीं करता। यह वह शक्ति है जिसका अस्तित्व दूसरों के हृदयों में 'रस' का संचार कर देता है और उन्हें अपना लेता है। हमारे साहित्य-शास्त्रों के अनुसार भाषा यदि कविता कामिनी का शरीर है और अलंकार उसके आभूषण हैं तो यह रसोपादिका शक्ति उसकी आत्मा है। अतएव, आत्मारूपी रस जहाँ सर्वत्र एक समान व्याप्त होगा वहाँ उसके बाहरी परिच्छदरूपी वातावरणादि के प्रभाव देशकालानुसार परिवर्तित होते रहेंगे और उनकी छाप उसके विषय और वर्णन-शैली पर दृष्टिगोचर होगी। दो भिन्न-भिन्न देशों अथवा युगों में की गई कविताओं में, इसी कारण, भाषाभेद के अतिरिक्त अन्य प्रकार का भी अंतर दीख पड़ता है। आज से कई वर्ष पहले-संभवतः सं० १९६७ विक्रमाब्द में—स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट ने उस समय प्रयाग से निकलने वाली 'मर्यादा' पत्रिका के प्रथम अंक में ही "जुदी-जुदी भाषाओं की कविता के जुदे-जुदे ढंग" शीर्षक एक छोटा सा लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कविताओं की विभिन्नता संबंधी इस पहलू पर अच्छा प्रकाश डाला था। यह बात कुछ कम कौतूहल की नहीं है कि मानव-प्रकृति के निसर्गतः एक

होने पर भी लगभग एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न कवियों को अपने-अपने वातावरणानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आश्रय ग्रहण करने पड़ते हैं। वे इनसे इतने परिवेष्टित और प्रभावित रहते हैं कि बिना ऐसा किये उनका काम ही नहीं चलता। सच्चे काव्य की परीक्षा की दृष्टि से ये बातें गौण समझी जा सकती हैं, किंतु इनकी चर्चा में मनोरंजन की पूरी सामग्री वर्तमान है।

कविता को उपर्युक्त प्रकार से प्रभावित करने वाली बातों में उसके रचयिता के देश वा निवास-स्थान का जलवायु, वहां के प्राकृतिक दृश्य और सामाजिक वातावरण आदि का विचार किया जा सकता है, जहां उसके जीवन-काल वा युग की दृष्टि से उनमें उसके समकालीन वृत्तों, आंदोलनों तथा राजनीतिक परिस्थिति जैसी विशेषताओं का समावेश किया जा सकता है। इस प्रकार की भिन्नता, यदि हम चाहें तो, भारतवर्ष जैसे एक विशाल देश की विविध प्रांतीय भाषा-भाषियों की कविताओं में भी पा सकते हैं, किंतु उस दशा में कुछ अधिक सूक्ष्मता के साथ छानबीन करनी पड़ेगी। इस विषय की बातें दो ऐसे दूरस्थ देशों की कविताओं द्वारा अधिक सरलता के साथ स्पष्ट की जा सकती है, जिनके निवासियों के वातावरण एवं जीवन में महान अंतर हो। इसलिए यहां पर हम ऐसे ही दो भिन्न-भिन्न देशों के काव्यों के उदाहरण देने की चेष्टा करेंगे। इन दोनों में से एक शीत प्रधान टापू है जहां के कार्यशील पुरुष आधुनिक सभ्यता के अनुयायी हैं और दूसरा एक उष्णप्रधान प्रायद्वीप है जहां के विचारशील पुरुष एक प्राचीन सभ्यता के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पहले की भाषा का साहित्य दूसरे वाले की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और समृद्ध है, किंतु यहां पर केवल उनकी कविताओं की ही तुलना होगी, कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों देश क्रमशः इंगलैंड और भारत होंगे और उनकी भाषाएं क्रमशः अंग्रेजी एवं हिंदी होंगी।

(२)

हिंदी एवं अंग्रेजी कविताओं की तुलना जलवायु के प्रभावानुसार करते समय जान पड़ेगा कि ग्रीष्मप्रधान भारत का हिंदी-कवि जहां उष्णता की अपेक्षा शीतलता को अधिक रुचिकर समझता है, वहां इंगलैंड के ठंडे वातावरण में पला हुआ अंग्रेज़ी का कवि शीतलता की अपेक्षा गर्मी को ही अधिक सुखकर मानता है। उदाहरण के लिए एक हिंदी-कवि अपने प्रिय मित्र के साथ मिलने के आनंद को व्यक्त करते समय जहां,

कीजिय चंदन लेप वरु, हिम कपूर संग लाय।
हियो न तदपि जुड़ाय त्यों, ज्यों प्रिय अंक लगाय॥

(जयदेव)

कहता है वहां एक अंग्रेजी का कवि प्रायः ठीक वैसे ही भाव को,

O, for that warmest heart of thine
The form that tender lovely grace,
Thy hearty warming long embrace,
O, for the blissful days of mine.

(*Anon*)

अर्थात् "हाय, मुझे तेरे उस हृदय की सुध आरही है जो मेरे लिए सदा उष्ण से उष्ण रहा करता था, उस रूप की जो मृदुल और मनोमोहक लावण्य से परिपूर्ण था और उस गर्म (सस्नेह) गाढ़ालिंगन का भी स्मरण हो आता है जो निर्व्याज होता था; हाय, वे मेरे आनंदमय दिवस अब कहां आते हैं!" कहकर प्रकट किया करता है। इसी प्रकार एक पति-परायणा स्त्री के भाव को जहां एक हिंदी कवि उक्त नियम के अनुसार,

पाँव पखारि बैठि तरु छाँही। करिहौं वायु मुदित मनमाहीं॥

(तुलसीदास)

अथवा :— छाकहु बैठि दुअरिआ, मींजहु पाय ;
पिय तन पेखि गरमियां, बिजन डुलाय।

(रहीम)

द्वारा व्यक्त करता हुआ उसका अपने प्रियतम की तापजनित थकावट दूर करने के लिए पंखे का झलना दिखलाता है वहां अंग्रेजी का कवि, प्रायः वैसेही प्रसग में किन्हीं मृत ग्रामीणों के विषय में कल्पना करता हुआ कहता है,

For them no more the blazing hearth shall burn
Or busy housewife ply her evening care,

(Thomas Gray)

अर्थात् अब इन्हें कभी (घर लौटने पर थकावट और ठंडक दूर करने की) जलती हुई अंगीठी नहीं मिला करेगी और न इनकी गृहिणी उसके निकट इनके स्वागत की योजना में प्रवृत्त ही दीख पड़ेगी। इससे शीतप्रधान देश के अग्निसेवन का महत्त्व सूचित होता है।

इसके सिवाय भारतवर्ष का हिंदी कवि जहां, विरहदशा का वर्णन करते समय उसके प्रभाव को तापजनक बतलाता है वहां अंग्रेजी कवि उसी विरहदशा का बोध बर्फ़ जैसी ठंडी वस्तु के उल्लेख द्वारा कराना चाहता है। जैसे, हिंदी-कवि जहां कहता है,

विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वाँस जरै छन मांह सरीरा।
नयन स्रवै जल निज हित लागी। जरै न पाव देह विरहागी।

(तुलसीदास)

अर्थात् विरहाग्नि के द्वारा रुई के समान शरीर श्वास की हवा लगकर क्षणमात्र में ही जलजाता, किंतु इतने में ही उधर नेत्रों से अश्रु-प्रवाह भी होने लगता है जिससे उसका जलकर भस्म हो जाना पूर्ण नहीं हो पाता। परंतु अंग्रेजी का कवि अपने एक प्रिय मित्र को अपनी विरह-

दशा का परिचय देता हुआ, इसके विपरीत बातें करता है और कहता है,

Speak! though this soft warm heart once free to hold
A thousand tender pleasures, thine and mine
Be left more desolate, more dreary cold
Than a forsaken bird's nest filled with snow
'Mid its own bush of leafless eglantine
Speak that my torturing doubts their end may know
(Wordsworth)

अर्थात् अजी बोलो ! यद्यपि मेरा यह सुकुमार और उष्ण हृदय जिसमें कभी सहस्त्रों मेरी और तुम्हारी सुखद स्मृतियां भरी रहा करती थीं आज उस त्यक्त घोंसले से भी अधिक सूना, निरानंद और अनुष्ण हो गया है जो जंगली जवाकुसुम की झाड़ियों में पड़ा हुआ, बर्फ़ से भर जाया करता है; एक बार बोलो, जिससे मेरे उद्वेगजनक संदेह निर्मूल हो जांय जिससे स्पष्ट है कि वह विरह के प्रभाव को घोर शैत्य की कठोरता का उत्पादक मानता है और इसीलिए अपने हृदय को हिमखंडों से भरे घोंसले के सदृश भी बतलाता है।

प्राकृतिक दृश्यों के प्रसंगों के विषय में भी हम इसी प्रकार की बातें देखते हैं। जिस कवि के समक्ष जो सामग्री अधिकता के साथ उपलब्ध होती जान पड़ेगी उसी के आधार पर वह अपने मनोगत भावों को स्वभावतः प्रकट करेगा। इंगलैंड एक द्वीप है जिसके चारों ओर समुद्र लहराया करता है, इस कारण अंग्रेजी की कविता में जितना समुद्र और जहाजों का वर्णन दीख पड़ेगा उतना भारतीय भाषा हिंदी की कविता में नहीं पाया जा सकता। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के कई नाटकों

में तथा बायरन, शेली एवं कोलरिज आदि की कविताओं में समुद्र को जितना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उसे हिंदी के—

जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै

कहने वाले सूरदास अथवा रावण द्वारा—

बाँध्यों बननिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोधि नदीस॥

कहलाकर उसे विक्षिप्त बना देने वाले तुलसीदास को कौन कहे, सिंहलद्वीप के वर्णन से कथा का आरंभ कर 'बोहित,' 'सातसमुद्र' आदि की चर्चा करने वाले 'पद्मावत' के कवि जायसी ने भी नहीं दिया है। इन कवियों में सर्वत्र पौराणिकता ही झलकती है। हां, नदियों, पर्वतों एवं कुँजों तथा उद्यानों के उल्लेखों और वर्णनों में हिंदी-कवि अंग्रेजी कवियों से पीछे नहीं कहे जा सकते। प्राचीन ऋषियों का निवास-स्थान होने के कारण वन का महत्व इनके यहां कुछ अधिक है, किंतु झीलों के संबंध में यह बात उतनी स्पष्ट न होकर सरों अथवा तड़ागों के विषय में विशेष रूप से सिद्ध की जा सकती है। अंग्रेजी कवियों ने झीलों को अधिक अपनाया है और वर्ड्सवर्थ जैसे दो-तीन कवि तो इनके संपर्क के कारण Lake Poets (झील के कवि) तक कहलाकर प्रसिद्ध हैं। इन सभी उपर्युक्त बातों के उदाहरण देने को यहां स्थान नहीं है।

इसी प्रकार फल, फूल, पशु, पक्षी आदि का उल्लेख करने में उक्त दोनों वर्ग के कवियों की अपनी-अपनी विशेषता है। अंग्रेजी के कवि प्राकृतिक दृश्यों के नग्न और स्वाभाविक वर्णनों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं, जहाँ हिंदी कवि अधिकतर परंपरागत ऋतुवर्णन की परिपाटी का ही अनुसरण करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। बसंत अथवा शरद ऋतुओं में जो-जो फूल इंगलैंड में देखने को मिलते हैं वे उसी समय भारतवर्ष में नहीं पाये जाते और जो उक्त समय में यहाँ दीख पड़ेंगे, उनका वहाँ पर बाहुल्य नहीं है। वहाँ तो कई फूलों का विकास

यहाँ के ग्रीष्म ऋतु में हुआ करता है। उनके लिए मई का महीना एप्रिल से किसी प्रकार भी कम नहीं, प्रत्युत कई बातों में इससे बढ़कर भी कहा जा सकता है। अतएव, किसी मास विशेष के प्रसंग में दोनों वर्ग के कवि एक ही जाति के फूलों का वर्णन नहीं किया करते। अंग्रेजी-कवि जिन फूलों का अधिक आश्रय लिया करते हैं उनमें Daisy, Rose, Daffodil, Violet आदि मुख्य कहे जा सकते हैं। Daisy का सौंदर्य उन्हें इतना प्रियकर जान पड़ता है कि वे उसके नाम की व्युत्पत्ति; Day's eye (दिन की आँख) कह कर किया करते हैं और आदि कवि चासर से लेकर आज तक इसका सम्मान बराबर होता आया है। प्रकृति-पुजारी Words worth (वड्‌सवर्थ) कवि ने इसे Poets' darling (कवि का दुलारा) Nature's Favourite (प्रकृति का कृपापात्र) आदि कई नामों से पुकारा है और इसकी प्रशंसा में कुछ पंक्तियाँ भी लिखी हैं। स्कॉच कवि बर्न्स ने अपने हल से इसके कुचले जाने पर ऐसे प्रभावपूर्ण शब्दों में अपना शोक प्रकट किया है कि उसकी वह कविता सदा के लिए अमर हो गई है। यह फूल एक ही साथ सादगी, सौंदर्य, नम्रता और मिलनसारी का बोधक समझा जाता है। इसी प्रकार Rose (गुलाब) अपने रंग विशेष के लिए Daffodil (डैफोडिल) अपने सुनहलेपन के लिए Violet (पाटल) अपने सुहावने रंग और कोमलता के लिए तथा Little और Lesser Calendine (कैलेंडाइन) अपने आनंद एवं धैर्य प्रदान करने वाले रूपों के लिए प्रसिद्ध हैं। इधर हिंदी-कवियों के लिए सब से प्रिय पुष्प कमल है, इसके रंग और सुकुमारता पर वे इतने मुग्ध हैं कि वे एक ही स्वर में,

'नवकंज लोचन, कंज मुख, करकंज, पद कंजारुणं'

जैसी पंक्तियाँ कह डालते हैं और कभी-कभी इसके नीले होने पर भी इसे 'नील सरोरुह स्याम' के नाते नहीं छोड़ना चाहते। इस फूल का प्रसंग बहुत प्राचीन संस्कृत-काव्य से ही दीख पड़ता आया है। सूर्य के साथ

इसका वर्णन करके मैत्री का भाव दरसाने के लिए, चंद्रमा के साथ लाकर शत्रुत्व का बोध कराने के लिए अथवा कभी-कभी शरद् ऋतु की निराली छटा का विशद वर्णन करने के लिए कमल के फूल का उल्लेख किया गया बहुत अधिक पाया जाता है। इसके सिवाय टेसू, पलाश, और कचनार अपने-अपने लाल रंग के लिए, चंपक पीतवर्ण के लिए, कास और कपास श्वेत वर्ण के लिए, केतकी अपने काँटों के लिए, आम की मंजरी कामोद्दीपन के लिए, मालती कुँजों के लिए तथा कुमुद, कदंब, कनेर आदि अपने-अपने गुण विशेष के लिए प्रसिद्ध हैं। फलों के वर्णन हिंदी कविता में अंग्रेजी कविता से कदाचित् कम नहीं पाये जाते। धान के खेतों की भी यहाँ एक अपनी विशेषता है। बड़े-बड़े वृक्षों का प्रसंग दोनों वर्गों के कवि धीरता, महत्ता, दानशीलता, शांतिप्रियता अथवा दयालुता के लिए लाते हैं यद्यपि इनमें से प्रत्येक के लिए अपने-अपने देश का ही वृक्ष विशेष उन गुणों को प्रकट करता हुआ जान पड़ता है।

इसके सिवाय अंग्रेजी का कवि, जिस प्रकार, काइंयापन के लिए पशुओं में लोमड़ी को चुनता है, उसी प्रकार हिंदी-कवि उस गुण के लिए गरम देशों में अधिकतर पाये जाने वाले श्रृगाल को ही बहुत दिनों से उपयुक्त समझता आया है। शीत प्रधान देश वाले अंग्रेजी-कवियों ने भेड़ के बच्चे को निर्दोष अथवा निरुपद्रवी का प्रतीक माना है जहाँ हिंदी-कवि हिंदुओं की गोमाता को प्रधानता देते हैं। इन कवियों के लिए, इसी प्रकार, स्वामिभक्त होने पर भी कुत्ता—

'खल परिहरिय श्वान की नांई'। (तुलसीदास)

जैसे स्थलों पर हेय ठहराया गया है, किंतु अंग्रेजी कवि ने सदा उसे एक प्रिय सहचर के रूप में ही स्वीकार किया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि ने अपने कुत्ते के मरने पर शोकाकुल होकर करुणरस से भरी बहुत अच्छी पंक्तियाँ लिखी हैं। हाथी का वर्णन अंग्रेजी-काव्य में, कदाचित्, कहीं ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलेगा जहाँ हिंदी में इस पशु के उल्लेख अनेक

प्रकार से किये गए दीख पड़ेंगे। मतवाले और दीर्घकाय पुरुषों का वर्णन करते समय इसका प्रसंग विशेष रूप से लाया जाता है, किंतु इसकी चाल की उपमा कामिनियों की निराली गति के लिए अधिक उपयुक्त बतलायी जाती है। हिंदी-कवि की दृष्टि में बैल इसी प्रकार अपने कंधे के लिए, सिंह अभिमान भरी 'ठवनि' के लिए, सिंहिनी अपनी कटि के लिए तथा मृग अपनी सुकुमारता एवं बड़े-बड़े नेत्रों के लिए आदर्शरूप हैं, किंतु अंग्रेजी कविता में इनकी ओर इस विचार से ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता। सिंह को अंग्रेजी कवि ने, बहुधा, साहस का बोधक और भेड़िए को क्रूरता का द्योतक माना है। बकरी का बच्चा दोनों के यहाँ अपनी दीनता के लिए प्रसिद्ध है और बिल्ली का बच्चा, इसी प्रकार अपने खेलाड़ीपन की विशेषता रखता है।

पक्षियों के विषय में भी, इसी प्रकार, दोनों वर्गों के कवि अपनी-अपनी प्रसिद्धियों के पृथक्-पृथक् परिचय दिया करते हैं। अंग्रेजी कवियों के लिए Skylark (संभवतः भरद्वाज) नाम का पक्षी बहुत प्रिय है और शेली एवं वर्ड्सवर्थ ने इस पर उत्तम कविता की है। वर्ड्सवर्थ ने जहाँ इसे Ethereal minstrel (स्वर्गीय गवैया) तथा Pligrim of the sky (आकाश का तीर्थ-यात्री) कहा है वहाँ शेली ने इसकी तुलना कवि, कुलीन युवती, जुगुनू तथा छिपे हुए प्रस्फुटित गुलाब के फूल के साथ की है। इस कवि के लिए उसका संगीत का स्वर अन्य सभी मधुर शब्दों से कहीं बढ़ कर जान पड़ता है। परंतु हिंदी कविता में इस पक्षी का पता नहीं चलता। हिंदी-कवियों के लिए हंस विशेष रूप से आदरणीय है और यहाँ उसके कई गुणों को आदर्शवत् स्वीकार किया गया है। पपीहा इन कवियों का ध्यान, अपनी मधुर पुकार 'पी कहाँ, पी कहाँ' के द्वारा, आकृष्ट करता हुआ किसी विरहिणी का स्मरण दिलाता है, परंतु अंग्रेजी के कवि इस पक्षी का स्थान कदाचित् Nightingale अर्थात् बुलबुल को देते हुए जान पड़ते हैं। जैसे,

Less Philomel will deign a song
In lar sweetest saddest plight
Smoothing the rugged brow of Night

× . × × ×

—sweet bird that shunnest the noise of folly, most musical most melancholy.

(John milton)

अर्थात् जबतक फिलामेल (एक ग्रीक युवती का नाम जिसका प्रयोग कवि प्रसिद्धि के अनुसार बुलबुल के लिए किया जाता है) अपना एक गीत सुना कर अपने सुखप्रद, किंतु करुणाजनक भावों को व्यक्त नहीं कर देती और इस प्रकार उस रात्रिकाल की भयंकरता नष्ट नहीं हो पाती।—वह मनोहर पक्षी जिसे मूर्खतापूर्ण कोलाहल से घृणा रहा करती है और जो अत्यंत संगीत कुशल और अत्यंत विषादपूर्ण भी है। इस पक्षी के प्रति Keats (कीट्स) जैसे एकाध अन्य कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। अंग्रेजी कवि के लिए इसी प्रकार, सब से बली पक्षी Eagle (उकाव) समझा जाता है जो संभवतः हिंदी कवियों के गरुड़ का स्थानापन्न है। परंतु Owl (उल्लू) उनके यहाँ उतना अशुभ नहीं समझा जाता जितना हिंदी कवि उसे वैसा मानते जान पड़ते हैं। हाँ, कोयल को दोनों वर्ग वाले कवि गाने वाली गौरैया को कूजने वाली तथा कपोल को शांतिप्रिय समझते प्रतीत होते हैं। अंग्रेजी कवियों के यहाँ चक्रवाक जैसा कोई पक्षी नहीं दिखलाई पड़ता जो उनके काव्य में वियोग की स्थिति का परिचय देता हो और न वहाँ पर कोई चकोर सा ही जान पड़ता है जो दृढ़ प्रेम और हठधर्मिता के आवेश में जलते अंगारे तक को चुन लेता हो। परन्तु हिंदी काव्य में इनका बाहुल्य है।

३

भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक दृश्यादि के समान ही कवि के सामाजिक वातावरण का भी महत्त्व है और इसका प्रभाव उनकी रचनाओं में पाये जाने वाले सौंदर्य संबंधी मानदंड, सामाजिक प्रथा तथा नैतिक आचार-व्यवहार संबंधी बातों के विषय में अधिक स्पष्ट रूप में दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए हिंदी का कवि अपनी नायिका के लिए सब से उत्तम रंग सोने या चंपे का मानता है और उसे वह गेहुँए रंग का स्वीकार करता तथा कभी-कभी 'श्यामा' तक कह देता है। किंतु अंग्रेजी के कवि के लिए सब से उत्तम रंग श्वेत है जो उसके शीत प्रधान देश के भी अनुकूल है। इसी प्रकार हिंदी का कवि सदा से केशों की कृष्णता को ही अधिक पसंद करता आया है और वह उन्हें अधिक से अधिक काला देखना चाहता है। जैसे,

चिक्कन कुटिल अलक अवली छवि, कहि न जाय शोभा अनूपवर।
बाल भुअंगिनि निकरि मनहुँ मिलि, रही घेरि रस जानि सुधाकर॥
(तुलसीदास)

अथवा,

भाल विशाल तिलक झलकाहीं।
कच विलोकि अलि अवलि लजाहीं॥ (तुलसीदास)

और इस प्रकार की सैकड़ों पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। यदि नायिका की पीठ के सुनहले रंग तथा उसकी वेणी के कालेपन का उदाहरण एक ही स्थल पर देखना हो तो हमें वह गंग कवि की पंक्ति—

"मनो कंचन के कदली दल पै, अति साँवरी साँपिनि सोइ रही"।

में मिल सकता है। परंतु अंग्रेजी के कवि को कदाचित् इस प्रकार का मानदंड स्वीकृत नहीं और वह ऐसे केशों को अधिकतर सुनहले वा धुँधले रंगों में ही देखना चाहता है।

जैसे,

Thy silver locks once auburn bright
Are still more lovely in my sight
Than golden beams of orient light
My Mary ! (*W. Cooper*)

अर्थात् ऐ मेरी मेरी ! तेरे पांडुवर्ण के चमकीले केश आज चांदी की भांति श्वेत हो जाने पर भी मेरी दृष्टि में पूर्व की ओर से निकलने वाली सुनहली किरणों के सामान ही सुहावने जान पड़ते हैं।

अथवा,

Her eyes are stars twilight fair
Like twilight, too, her dusky hair.
(*Words worth*)

अर्थात् उसकी आंखें संध्या के तारों की भांति सुन्दर थी और उसके बाल भी संध्या के ही सामान धुँधले रंग के थे।

उपर्युक्त पंक्तियों के कवि ने आंखों की उपमा संध्या-कालीन तारिकाओं से देकर नेत्रों के लिए अपने मनोनीत रंग की ओर भी संकेत कर दिया है। फिर भी अंग्रेजी के कवि को नायिका की नीली आंखें ही अधिक पंसद हैं। जैसे,

It was not her golden ringlets bright ;
Her lips like roses, wet with dews,
Her heavy bosom lily white—
It was her eyes so bomie blue.

अर्थात् उसके सुनहले, चमकीले तथा घुँघराले बाल अथवा ओस की बूँदों से भीगे हुए गुलाब के फूलों के सामान उसके होठ की नलिनी के समान उसके श्वेत एवं गंभीर स्तनदेश हमें उतना स्मरण नहीं दिलाते जितना उसकी सुन्दर नीली आंखें। परन्तु हिन्दी-कवि, इसके विपरीत,

काली-काली एवं चपल तथा कभी-कभी लाल तक आखों को पंसद करता जान पड़ता है। जैसे;

कारे, कजरारे, अमल, पानिप ढारे पैन।
मतवारे, प्यारे, चपल तुअ ढुरवारे नैन॥

(अज्ञात)

अथवा,

रतनारी थारी आँखड़ियां।
प्रेम छकी रसबस अलसानी, जाणि कमल की पाँखड़ियाँ।
सुंदर रूप लुभाई गतिमति, हौं भइ ज्यूँ मधु माँखड़ियाँ॥

(मीरांबाई)

नेत्रों के उक्त रंगादि की ही भाँति हिंदी-कवि नायिका की गर्दन की बनावट के विषय में भी अँग्रेजी कवि से मतभेद रखता है हिंदी-कवियों के अनुसार सुन्दर गर्दन का आदर्श कपोत पक्षी के समान होना चाहिए। जैसे,

जब धरनीन कपोत सब, जरे देखि ग्रिव भेष।
तब उन पापिनि कंठ विधि, दियो पाप की रेख॥

(श्रीधर पाठक)

किंतु अँग्रेजी के कवि को इतने से संतोष होता नहीं दीखता और वह ऐसी ग्रीवा को किसी ऊँचे कंगूरे के समान देखना चाहता है। जैसे,

Her neck is like a stately tower,
Where love himself imprisoned his, etc.

(T. Lodge)

अर्थात् उसकी गर्दन एक ऊँची मीनार के समान है जिसमें स्वयं प्रेम बंदी बनकर पड़ा हुआ है। इसी प्रकार मानव शरीर के अन्य अंगों के सौंदर्यादि के संबंध में भी अनेक उदाहरण दोनों भाषाओं के काव्यों से दिये जा सकते हैं।

इंगलैंड एवं भारतवर्ष की स्त्री पुरुष-संबंध-विषयक विभिन्नता की चर्चा प्रायशः की जाती है। भारत में स्त्रियाँ सदा से पुरुष की सहधर्मिणी तथा अर्द्धांगिनी तक समझी जाती रही है और इनके विषय में "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" भी कहा गया है। किंतु, सब कुछ होते हुए भी हिंदू समाज इनका बहुधा निरादर ही करता आया है जिसके उदाहरण हिंदी कविता में भी मिलते हैं। विरक्ति की दशा का वर्णन करते समय जो कहा गया है वह तो है ही, साधारण ढंग से भी इनके विषय में कम नहीं लिखा गया है। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जाने वाले गो० तुलसीदास ने, प्रसंगवश, इनके हृदयों में आठ अवगुणों का रहना बतलाया है और उन आठों को क्रमशः गिनाकर इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके सिवाय एक अन्य प्रसंग में उन्होंने इन्हें शूद्रों, गवारों, पशुओं और ढोल तक के साथ "ताड़न के अधिकारी" वर्ग में स्थान दिया है पाश्चात्य देशों के समाज में भी स्त्रियों का आदर सदा नहीं रहता आया है और इस बात के अनेक प्रमाण मिलसाहब के "Subjection of wonen" ग्रंथ से दिये जा सकते हैं जो विशेषकर स्त्री समाज की पराधीनता पर ही लिखा गया है। किंतु फिर भी अँग्रेज कवि इन्हें उचित स्थान देते हैं—जैसे,

Woman is the lesser man, and all thy
passions matched with mine,
Are as moonlight unto sunlight,
and as water unto wine,

(*Tennyson*)

अर्थात् स्त्री तो पुरुषप्राय ही हुआ करती है; तेरे और मेरे मनोविकारों में उतना ही अंतर होगा जितना चाँदनी और सूर्य की प्रभा में अथवा जल और मदिरा में हो सकता है।

दोनों भाषाओं के कवियों ने कहीं-कहीं प्रसंगवश आदर्श नारियों के कर्त्तव्यों की भी चर्चा की है। पति-परायण भार्या के चरित्र पर कुछ प्रकाश डालने वाली पंक्तियाँ इसके पहले भी उद्धृत की जा चुकी हैं। यहाँ पर उत्तम स्त्रियों के कर्त्तव्य-संबंधी विषय की चर्चा कुछ और भी विस्तार के साथ की जाती है। इसके ऊँचे आदर्श का पता देता हुआ एक हिंदी कवि एक स्त्री से ही कहलाता है—

जँहलगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिन तियहि तरनि ते ताते॥
तन, धन, धाम, धरनि, पुर राजू। पिय विहीन सब सोक समाजू॥

× × ×

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहि उचित तप मोकहं भोगू॥

(तुलसीदास)

अथवा जैसा कि एक अन्य कवि ने भी कहलाया है—

हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं।

(मैथिलीशरण गुप्त)

पतिभक्ति वा पतिपरायणता के ऐसे उज्वल दृष्टांत, वस्तुतः कम देखने को मिलते हैं। परन्तु अँग्रेजी का कवि भी बहुत ऊँचे आदर्श रख सकता है। ऊपर उद्धृत की गई चौपाइयाँ गो० तुलसीदास के प्रसिद्ध ग्रंथ 'राम-चरितमानस' से लीगई हैं और वे उस अवसर से संबंध रखती हैं, जबकि सीता अपने पति रामचन्द्र के बन जाते समय उनके साथ जाने का आग्रह करती है और इसके औचित्य के समर्थन में पति-पत्नी विषयक घनिष्ठ संबंध की स्वाभाविकता की दुहाई देती है। लगभग ठीक वैसे ही अवसर पर, अंग्रेजी कवि शेक्सपियर के 'ओथेलो' नामक नाटक की नायिका डेस्डिमोना द्वारा कही गई कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है,

That I did love the Moor to live with him
My downright violence and storm of fortune
May triumpet of the world my hearts subdued
Even to the very quality of my lord ;

× × × ×

So that, dear lords, if I be left behind
A moth of peace and he go to the war
The rites for which I love him are bereft me
And I a heavy interim shall support
By his dear absence. Let me go with him.

(Shakespeare)

अर्थात् मैं मूर (ओथेलो) के साथ रहने के लिए ही उसे प्यार करती आयी हूँ और यह मेरे प्रत्यक्ष दुःसाहस एवं मेरे प्रति किये गए उपहास आदि से भी स्पष्ट है। मेरा हृदय अपने स्वामी की अंतरात्मा के हाथ बिक चुका है। × × × अतएव, हे विचार पति महाशयो ! यदि मैं यहां शांति का उपभोग करने के लिए रह जाती हूँ और वे समर भूमि में चले जाते हैं तो उनकी अनुपस्थिति के कारण, मेरे लिए समय का काटना कठिन हो जायगा और मेरे प्रेम का सारा उद्देश्य भी मिट्टी में मिल जायगा। कृपया मुझे उनके साथ जाने की आज्ञा दे दें।

'मानस' एवं 'ओथेलो' के ऊपर दिये गए उदाहरणों को पढ़ने पर उनके आदर्शों में एक विचित्र समानता लक्षित होती है और उन दोनों की एकाध बातें एक दूसरे की छाया सी प्रतीत होने लगती हैं। किंतु यह सादृश्य आगे तक नहीं निभ पाता, ओथेलो के कुछ कारणवश क्रुद्ध हो जाने पर वही डेस्डिमोना, हिंदू महिलाओं की भांति उसे अपने जन्मांतर के पापों का परिणाम न समझती हुई फिर पुरुष जाति पर संदेह सी करने लग जाती है और अपनी दासी से कह बैठती है—

O, these men, these men !
Dost thou in conscience think,-tell me
Emilia
That there be women do abuse their husband
In such gross kind

(Shakespeare)

अर्थात् हाय पुरुष जाति ! (नृशंस) पुरुष जाति ! क्यों एमीलिया, कह तो सही, क्या तेरे अंतःकरण में यह बात कभी आ सकती है कि कभी कोई स्त्री भी अपने पति के साथ इस प्रकार का बर्ताव करती होगी ! अन्यत्र एकाध स्थलों पर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करती हुई भी, डेस्डिमोना, केवल इस प्रकार की धारणाओं के ही कारण कुछ नीचे गिर जाती है। इतना ही नहीं, शेक्सपियर के एक दूसरे नाटक 'टेम्पेस्ट' की सीधी-सादी नायिका मिरांडा के मुँह से भी हमें वैसी ही बातें सुन पड़ती है। जैसे,

Mir—Sweet lord you play me false
Fer—No, my dearest love
I would not for the world.
Mir—Yes, for a score of kingdoms you should wrangle
And I would call it fairplay.

(Shakespeare)

अर्थात् मिरांडा—प्रियतम, तुम मेरे साथ अनुचित बर्ताव करते हो।
फर्डिनंड—नहीं प्रिये, मैं संसार के उपलक्ष में भी ऐसा नहीं कर सकता।
मिरांडा—हां, हां, तुमतो ऐसा केवल एक कोड़ी राज्यों के पाने पर भी कर सकते हो और मुझे (यह सब तुम्हारी दृष्टि से) उचित ही दीखेगा।

इसी प्रकार इन दोनों भाषाओं के कवियों की रचनाओं में सामाजिक धारणाओं और परंपराओं की विभिन्नता भी दीखती है उदाहरण के लिए मृत्यु-संबंधी साधारण उद्गार प्रकट करते हुए दोनों प्रायः एक समान कहते हैं। जैसे,

इंद्र भए धनपति भए, भए शत्रु के साल।
कलप जिए, तौऊ गए, अंत काल के गाल॥ (अज्ञात)

तथा,

Death lays his icy hands on kings
(J. Sheily)

अर्थात् काल अपने ठंडे हाथ प्रतापी राजाओं तक पर फेर दिया करता है। परंतु मृतकों की अंतिम शवक्रिया के संबंध में, सामाजिक प्रथानुसार, मतभेद होने के कारण उस बात को वे कभी-कभी नितांत भिन्न ढंगों से कहते हुए भी दीख पड़ते हैं। जैसे, शवदाह की प्रथा की ओर संकेत करता हुआ हिंदी कवि जहाँ,

काया पाय बहुत सुख कीन्हों, नित उठि मलि-मलि धोई।
सो तन छिपा छार ह्वै जैहै, नाम न लैहै कोई॥
(कोई संत कवि)

कहता है, वहाँ अंग्रेजी कवि,

The paths of glory lead but to the grave
(T. Gray)

अर्थात् कितनी भी कीर्त्ति कमाइए, अंत में क़ब्र की ओर ही प्रस्थान करना पड़ेगा कहकर अपने समाज की मुर्दे गाड़ने वाली प्रथा की ओर निर्देश करता है।

४

काव्य-रचयिता की जीवन-कालीन विशेषता के उदाहरण साधारणतः उसकी भाषा के साहित्य के ऐतिहासिक विभागों में पाये जाते हैं।

किसी भी साहित्य के इतिहास का वर्णन करते समय उसे युगों वा कालों में विभाजित किया जाता है और उस विभाजन का आधार कोई विशेष प्रवृत्ति रहा करती है जो किसी ऐसे युग वा काल की अपूर्व घटनाओं वा आंदोलनों का परिणाम होती है। अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास में उसके Renaissance (जागरण) युग के पहले की कविता उस काल की रचनाओं से अनेक बातों में भिन्न है। प्रायः वही बात हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी स्वामी रामानंदादि के समय से पूर्व की रचनाओं तथा उस काल के विविध सांप्रदायिक आंदोलनों द्वारा प्रभावित कवियों की कृतियों की तुलना करने पर भी पाते हैं। दोनों साहित्य अपने-अपने उक्त युगों में एक प्रकार के पुनरुत्थान द्वारा सजीव हो उठे थे और नये-नये विचारों की लहरों ने साहित्यिक संसार में हलचल मचाकर कविता के भाव एवं भाषा दोनों में विचित्र परिवर्तन ला दिये थे। वह समय, संयोगवश, दोनों जगह अच्छी शासन प्रणाली द्वारा उत्पन्न शांति-काल भी सिद्ध हुआ, जिस-कारण प्रतिभाशाली कवियों को अपने रचनाकार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने का उपयुक्त अवसर मिल गया। फलतः इंगलैंड की रानी एलिज़बेथ एवं भारत के अकबर बादशाह के सुशासनों के प्रभाव में क्रमशः अंग्रेजी तथा हिंदी भाषा के महाकवि शेक्सपियर और तुलसीदास दीख पड़े और पहले ने जहाँ उपर्युक्त (Renaissance) के परिणाम-स्वरूप नाटक-साहित्य एवं गीति-काव्य के आदर्श रखे वहाँ दूसरे ने धार्मिक काव्य की सुदृढ़ नींव के आधार पर ऐसी कृतियों का निर्माण किया जो सदा के लिए अमर हो गईं।

दोनों साहित्यों के उपर्युक्त युग बहुधा 'स्वर्णयुग' कहकर पुकारे जाते हैं और उनके लिए गर्व प्रकट किया जाता है। किंतु उन दोनों के अनंतर जिन साहित्यिक युगों का प्रादुर्भाव हुआ उन्हें उस कोटि में कभी नहीं रखा जाता। इंगलैंड के राजनीतिक और सामाजिक वाता-वरणानुसार वहाँ की कविता में गद्यात्मकता और नीरसता का बाहुल्य

दीख पड़ा जिस कारण उस समय के अधिकांश कवियों की रचनाएँ साधारण श्रेणी की मानी गईं और उसी प्रकार भारत के तात्कालीन हिंदी-कवियों में दर्बारीपन एवं रूढ़िवादिता का भाव आ जाने के कारण, उनकी रचनाओं का युग भी कोरा रीतिकाल कहलाकर हलका पड़ गया। फिर इन दोनों भाषाओं के साहित्य के इतिहास में एक बार नवीन युगों का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी-साहित्य का यह युग के इतिहास Romantic Revival (रोमांटिक रिवाइवल) के नाम से विख्यात है जिसके प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ समझे जाते हैं और हिंदी-साहित्य वाले इस युग को उसके नायक भारतेंदु के नाम पर 'भारतेंदु-युग' नाम दिया जाता है। दोनों भाषाओं के काव्यों में, उनके विषय एवं वर्णन-शैली के विचार से, नितांत नवीन चेतना काम करती हुई लक्षित होती है जिसके कारणों का पता हमें क्रमशः इंगलैंड एवं भारत के भीतर चलने वाले तात्कालीन आंदोलनों में ही लग सकता है।

तात्पर्य यह कि किसी भी भाषा के साहित्य का रूप सदा स्थिर नहीं रहा करता; उसमें समयानुसार परिवर्त्तन होते रहते हैं और इस बात के यथेष्ट उदाहरण उसके कवियों की रचनाओं में बराबर मिला करते हैं। समय की गति का प्रभाव उस भाषा को प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न वातावरणों को अनुप्राणित कर देता है और वैसी परिस्थिति में पड़ जाने की दशा में कोई भी कवि उनकी विशेषताओं से अपने को बचा नहीं पाता। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो यह भी जान पड़ेगा कि इस प्रकार के प्रभाव किसी एक कवि की विभिन्न रचनाओं में भी दीख पड़ते हैं और उन्हीं के कारण इन्हें समयानुसार पहले वा पीछे की कृति बतलाया जाता है। कवियों की कौमारावस्था, उनकी प्रौढ़ावस्था तथा उनकी वृद्धावस्था की रचनाओं पर केवल उनके मानसिक विकास की ही छाप नहीं रहा करती प्रत्युत उनपर उन बातों का भी प्रभाव लक्षित होता है जिन वातावरण में उनका निर्माण हुआ रहता है। उदाहरण के लिए किसी दीर्घजीवी कवि

के जीवनकाल के प्रारंभिक दिनों की रचनाएं जिस सामाजिक स्थिति की सूचना देती हैं उसका पता फिर उसकी वृद्धावस्था वाली कृतियों में प्रायः नहीं पाया जाता। इस काल तक अधिकतर कोई भिन्न प्रवृत्ति काम करती रहती है जिससे वह स्वभावतः प्रभावित हो जाता है और उसके कोई न कोई चिह्न उसकी रचनाओं में दिखलाई देने लगते हैं। हिंदी के राष्ट्र कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के प्रारंभिक जीवन की रचनाएँ उनकी तरुणावस्था की राष्ट्रीय भावना वाली कविताओं के सदृश नहीं है और न उस काल के अनंतर लिखी गई उनकी छायावादी पंक्तियों में ही हमें उनके जातीय भावों की पिछली प्रचुरता पायी जाती है। उनके सामाजिक वातावरण की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ उनकी मनोदशा को अपने अनुकूल बनाती गई हैं, जिसका उनकी कथन-शैली एवं भाव पर भी न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

व्यक्तित्व क्या है, समाज क्या है, अथवा इन दोनों का पारस्परिक संबंध क्या है? व्यक्तित्व परिस्थिति का परिणाम है अथवा सारा इतिहास ही कुछ महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों से अधिक नहीं कहा जा सकता? आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनके उत्तर देने के लिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और इतिहास के विशेषज्ञों ने अनेक बार प्रयत्न किये हैं, किंतु जिनके संबंध में उठने वाली विविध शंकाओं का समाधान निर्विवाद रूप से नहीं कर पाये हैं। यहाँ पर ऐसे प्रश्नों के छेड़ने अथवा उन पर गंभीर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कविता किसी व्यक्ति विशेष की रचना मात्र हुआ करती है, अतएव उस पर पड़ा हुआ किसी प्रकार का भी प्रभाव उसके कवि वा रचयिता पर पड़े हुए प्रभावों का ही परिचायक हो सकता है। कोई भी मनुष्य यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि मुझ पर अपने कुटुंब, अपनी शिक्षा, अपने अध्ययन, अपने मित्रगण तथा अपने प्राकृतिक परिवेष्टन का प्रभाव नहीं पड़ा है और न यह कि वह अपने युग की विशेषताओं से नितांत अछूता है। वास्तव में, व्यक्तित्व इसी प्रकार के प्रभावों द्वारा निर्मित एक मानसिक

प्रतीक विशेष के सिवाय और कुछ भी नहीं है और न इससे पृथक उसके किसी अस्तित्व को मानने की आवश्यकता है। वंश-परंपरा वा Heredity एक प्रकार का सूत्र मात्र है जिसके Direction वा निदेश को एक विशेष कोण की ओर उन्मुख करने तथा जिस पर एक विशेष रंग चढ़ाने के लिए हमारे वातावरणों का प्रत्येक अंश निरंतर प्रयत्नशील है। एक क्षुद्र से क्षुद्र घटना तक इसमें लगी है। फिर भी वह सूत्र सदा एक ही प्रकार प्रभावित नहीं होता रहता, प्रत्युत उसकी गढ़न किसी एक स्थिति तक आकर एकबार बहुधा रुक जाया करती है और वहाँ तक गढ़ चुके उपर्युक्त प्रतीक में कुछ प्रौढ़ता आ जाती है। ऐसी दशा में उसका रूप कुछ ऐसा कठोर हो जाता है कि उसपर किन्हीं बाहरी बातों की मुहर पूर्ववत् नहीं लग पाती, प्रत्युत वही उन पर अपना प्रभाव डालने लग जाता है और उसी को व्यक्तित्व की संज्ञा दी जाती है। फलतः वातावरण एवं व्यक्तित्व के पारस्परिक संबंध के विषय में कहा जा सकता है कि वातावरण बहुत अंशों तक और व्यक्तित्व कम अंशों तक, एक दूसरे पर प्रभाव डाला करते हैं। इसी नियम का परिणाम हमें काव्य-रचनाओं में भी देखने को मिलता है।

सौंदर्य एवं प्रेम के कवि विद्यापति

१

मैथिल कवि विद्यापति का जन्म तिरहुत प्रदेश के बिसपी नामक एक गाँव में हुआ था जो वर्त्तमान दर्भंगा जिले के अंतर्गत उसके जरैल परगने में पड़ता है। इसी प्रकार, उनकी मृत्यु भी वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिले के मऊ वाजितपुर गाँव में हुई थी। प्रसिद्ध है कि वे कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन[1] अपनी ९० वर्षों से भी अधिक की अवस्था में गंगातट पर मरे थे। उनके मृत्यु-स्थान पर इस समय तक भी एक शिवमंदिर का विद्यमान होना कहा जाता है। यह भी बतलाया जाता है कि उसके निकट, गंगानदी के किसी समय प्रवाहित होने का चिह्नस्वरूप कोई निम्नस्तर भूखंड आजतक भी पाया जाता है फिर भी बंगला-साहित्य प्रेमी कतिपय सज्जनों ने विद्यापति को बंगदेशनिवासी ठहराने का प्रयत्न किया था और इसके लिए उन्होंने कई प्रकार के प्रमाण भी प्रस्तुत किये थे जो अंत में केवल काल्पनिक और निराधार सिद्ध हुए।

विद्यापति के जन्म-संवत् अथवा मृत्यु-संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। बहुत विद्वानों ने उनके जन्म-काल का सं० १४०७ से लेकर सं० १४१७ तक के बीच होना अनुमान किया है। इसी प्रकार उनकी मृत्यु का होना सं० १४६७ के पीछे ठहराया है। परंतु जिन मैथिल-पंजियों वा अन्य ऐसे प्रमाणों के आधार पर वे इन्हें

१. 'विद्यापतिक आयु अवसान। कातिक धवल त्रयोदसि जान' (डा० बाबूरामसक्सेना-संपादित 'कीर्तिलता' की भूमिका पृ० ६ पर उद्धृत)।

निर्धारित करते हैं वे स्वयं संदिग्ध बातों से भरी हुई हैं। उनकी न तो आजतक कोई गंभीर तुलनात्मक आलोचना हो पाई है और न कोई गवेषणापूर्ण अध्ययन ही हुआ है। इस कारण उनके आधार पर अंतिम निर्णय तक पहुँचते समय बड़े-बड़े विद्वानों तक से भूल हो गई प्रतीत होती है। डा० विमानबिहारी मजुमदार नामक एक सज्जन ने इस प्रकार निश्चित किये गए कुछ मतों की आलोचना की है और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं, "जहां तक साहित्यिक कार्यों का संबंध है विद्यापति कवि और विद्वान के रूप में पंद्रहवीं (ईस्वी) शती के प्रथम अर्धभाग में फूले फले[1]" जिसके अनुसार हम इस कवि के जीवन-काल को विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अधिकांश से लेकर उसकी सोलहवीं शताब्दी के, संभवतः, प्रथम चरण तक के बीच रख सकते हैं जो सभी बातों पर विचार कर लेने पर कदाचित् युक्तिसंगत ठहरेगा।

विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे और उनका वंश पंडिताई और प्रतिष्ठा में अग्रगण्य समझा जाता था। उनकी माता का नाम हांसिनी देवी प्रसिद्ध है और उनके पिता का नाम गणपति ठाकुर बतलाया जाता है। गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभापंडित थे और बालक विद्यापति उनके साथ-साथ राजसभा में जाया करते थे। राजा गणेश्वर के अतिरिक्त वे फिर उनके उत्तराधिकारियों के दर्बारों में भी आते-जाते रहे और इस प्रकार उन्हें राजसी वैभव का अनुभव होता रहा। कहते हैं कि उनके विद्याध्ययन का प्रबंध किसी हरि मिश्र नामक एक बड़े ही सुयोग्य पंडित के हाथ में था। उनके सहपाठियों में उनके गुरु के भतीजे जयदेव मिश्र भी थे जो 'प्रसन्न राघव' जैसे ग्रंथों के रचयिता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। जान पड़ता है कि विद्यापति ने

---

१. डा० विमानविहारी मजुमदार : 'विद्यापति का समय' (ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५३, पृ० २७)।

अपनी थोड़ी सी ही अवस्था में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन सुचारुरूप में कर लिया और स्थानीय राजसभाओं में उनका उचित सम्मान भी होने लगा। राजा शिवसिंह (शासनारंभ सं० १४६६) तो इन्हें अपना अंतरंग मित्र सा समझते थे और उनकी रानी लखिमादेवी भी इन पर विशेष अनुग्रह करती थीं। विद्यापति ने भी इस राजदंपति का नाम अपनी कई रचनाओं में बड़े आदर एवं प्रेम के साथ लिया है। राजा शिवसिंह ने विद्यापति को प्रतिष्ठा और सम्मान के अतिरिक्त इनका जन्मस्थान बिसपी गाँव भी प्रदान किया था जिसका एक ताम्रलेख भी वर्त्तमान है।[1]

विद्यापति मैथिल परंपरानुसार पंचदेव के उपासक होते हुए भी विशेषतः शैव थे। उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में गंगा की स्तुति तथा दुर्गा की उपासना एवं श्रीकृष्ण-कीर्तन-संबंधी कविताएँ लिखी थीं, किंतु उनकी सब से लोकप्रिय रचनाएँ 'नचारी' ही कही जाती हैं जो इनके इष्टदेव भगवान् शिव के उद्देश्य से निर्मित शिव बानियों के रूप में हैं। इन रचनाओं का तिरहुत प्रदेश में बहुत अधिक प्रचार है और इन्हें मैथिल स्त्रियां बड़ी श्रद्धा एवं प्रेम के साथ गाया करती हैं। प्रसिद्ध है कि स्वयं विद्यापति भी इन नचारियों को गाते-गाते भावावेश में आ जाते थे और नाचने तक लगते थे; इसी कारण, उनको कभी-कभी 'नर्तक' भी कहते थे। फिर भी विद्यापति की रचनाओं में उनकी किसी धार्मिक संकीर्णता का आभास हमें नहीं मिलता।

विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश एवं देशभाषा अथवा बोलचाल की मैथिली में लगभग १३-१४ ग्रंथों की रचना की है और इनके विषय विशेषकर आश्रयदाताओं की प्रशस्ति, कर्मकांड, नीति, उपदेश तथा शृंगाररसपूर्ण कृष्णकीर्तन से संबंध रखते हैं। जान पड़ता है कि इन्होंने उन सभी राजाओं के नामों से कुछ न कुछ रचनाएँ कर दी

---

१. 'कीर्त्तिलता' की भूमिका पृ० ७।

जिनके साथ वे रहते रहे वा जिनसे उनका थोड़ा सा भी परिचय रहा। इनके साधारण ग्रंथों से भी रचयिता के सूक्ष्मनिरीक्षण, पाण्डित्य एवं कवित्वशक्ति का पता चलता है। इनकी रचनाओं में 'पुरुष-परीक्षा' और 'पदावली' इधर अधिक लोकप्रिय हैं और 'कीर्त्तिलता' का भी एक अच्छा संस्करण निकल चुका है। 'पुरुष-परीक्षा' की भाषा संस्कृत है और उसमें अधिकतर विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य छोटी-छोटी, किंतु मनोरंजक कहानियाँ लिखी हुई हैं। 'कीर्त्तिलता' का विषय इसी प्रकार राजा कीर्त्तिसिंह का यशोगान है जो 'अपभ्रष्ट' वा मैथिल अपभ्रंश' में लिखा गया है। इन दोनों की वर्णन-शैली चित्ताकर्षक है और 'पुरुष-परीक्षा' द्वारा विविध प्रकार के पुरुषों की पहचान के लिए कसौटी भी मिल जाती है।

'पदावली' की भाषा मैथिली हिंदी है और उसमें विद्यापति के भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गए पदों का संग्रह दिया गया है। इन पदों की संख्या लगभग एक सहस्र की है और इनमें से प्रायः सभी गाने योग्य हैं। इनमें विद्यापति के 'अभिनव जयदेव,' 'कविशेखर,' 'कविकंठहार' अथवा 'कविरंजन' जैसे कई उपनाम भी देखने को मिलते हैं जिनसे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है। कहते हैं कि इस 'पदावली' के अनेक पदों को महाप्रभु चैतन्यदेव के समय से लेकर आजतक मिथिला, बंगाल एवं ब्रज के निवासी स्त्री-पुरुष अपने गाने की एक विशेष 'चीज़' मानते आए हैं और इनके द्वारा सर्वसाधारण तक मंत्रमुग्ध होते आए हैं। स्वयं महाप्रभु चैतन्यदेव के लिए प्रसिद्ध है कि वे इन्हें गाते-गाते प्रेमावेश में आकर बहुधा मुर्छित हो पड़ते थे और उनके द्वारा ही अपनाये जाने के कारण ये मोरंग, बंगाल, उड़ीसा आदि स्थानों में विशेष रूप से प्रचलित हुए। विद्यापति के इन पदों द्वारा उनके समसामयिक प्रसिद्ध चंडीदास का भी बहुत प्रभावित होना कहा जाता है। बंगला के कृष्णदास जैसे कई कवियों ने तो विद्यापति का अनुकरण करने में अपने को धन्य समझा जिसका

परिणाम यह हुआ कि अनेक बंगाली काव्यरसिकों ने इन्हें भ्रमवश बंगाल प्रांत का निवासी भी मान लिया और इस प्रकार की धारणा कई वर्षों तक बनी रही। इन पदों की लोकप्रियता का एक फल यह भी हुआ की इन पर क्रमशः मैथिली से भिन्न भाषाओं का भी रंग चढ़ गया और भिन्न-भिन्न स्थानों पर बहुधा पढ़ी और सुनी जाने के कारण एक ही कवि की रचना विशेष के अनेक रूप बन गए। फिरभी कई विद्वानों के अनवरत परिश्रम द्वारा यह बात अब निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि विद्यापति वास्तव में मैथिल ही थे और उनकी 'पदावली' की भाषा भी मैथिली थी जिनके प्रमाण में इनके अनेक वर्णनों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

विद्यापति की 'पदावली' के तीन प्रसिद्ध संस्करणों में से नगेन्द्र नाथ गुप्त के 'इंडियन प्रेस' वाले संस्करण में ६७९ पद आये हैं जहाँ उन्हीं द्वारा संपादित इसके बंगला संस्करण में ९४९ पद संगृहीत हैं। इसके आरा वाले ब्रजनंदन सहाय के संस्करण में, इसी प्रकार, केवल ४०० पद हैं और लहेरिया सराय के रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के संस्करण में यह संख्या २६९ तक ही चली आई है। इस तीसरे संस्करण का पाठ उक्त दोनों से कुछ अधिक शुद्ध जान पड़ता है और यह कतिपय टीका-टिप्पणियों से भी संयुक्त है। किंतु विद्यापति के सभी पदों का कोई प्रामाणिक संस्करण, कदाचित् अभी तक नहीं निकल पाया है।

'पदावली' में संगृहीत पदों को पढ़ते समय यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि इनके रचयिता ने अपने आदर्श के लिए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव को स्वीकार किया था और इसने उनकी रचना शैली एवं शब्दावली तक को अपना लिया था। भावसाम्य के विचार से 'पदावली' के अनेक पद जयदेव के 'गीतगोविंद' की पंक्तियों का अनुकरण करते हुए से जान पड़ते हैं। यही बात उस काल के अनंतर आने वाले हित-हरिवंश, सूरदास आदि हिंदी कवियों के विषय में भी पायी जाती है।

परंतु विद्यापति की 'पदावली' के अंतर्गत 'गीतगोविंद' की भाँति केवल एक ही विषय के पदों का समावेश नहीं हैं। राधाकृष्ण-संबंधी शृंगार विषयक पदों की प्रचुरता इसमें भी अवश्य है, किंतु इसमें फुटकर विषयों की भी कमी नहीं है। इसमें कुछ ऐसे पद भी आये हैं जो शिव, दुर्गा एवं गंगा की भक्ति से संबंध रखते हैं और उनमें कुछ बहुत सुंदर भी हैं। परंतु 'पदावली' का वास्तविक महत्त्व उसके शृंगार-विषयक पदों पर ही निर्भर है और विद्यापति को एक भक्त कवि के रूप में न मानकर उन्हें केवल एक सफल शृंगारी कवि ही कहना अधिक उचित जान पड़ता है।

२

विद्यापति की 'पदावली' द्वारा उनकी बहुमुखी प्रतिभा एवं काव्य-कौशल का पूरा परिचय मिलता है। इसमें संगृहीत पदों से इस बात का पता चल जाता है कि यह कवि, एक धुरंधर पंडित होता हुआ भी, अपनी कल्पना को किस प्रकार स्वच्छंद रूप से दौड़ लगाने के लिए छोड़ सकता था, दर्बारी होता हुआ भी जन-समाज की बातों से पूर्ण परिचित रहा करता था तथा किस प्रकार कवि परंपरा द्वारा गढ़ी गई रूढ़ियों में भी एक नवीन सौंदर्य की आभा प्रकट कर सकता था। विद्यापति प्रधानतः प्रेम और सौंदर्य के कवि हैं और इनकी रचनाओं में हमें इनकी कल्पना की ऊँची उड़ान के साथ-साथ सूक्ष्म निरीक्षण के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। 'पदावली' के अंतर्गत ऐसी पंक्तियों की कमी नहीं जिनमें इनकी गहरी अनुभूति के प्रमाण उनके प्रत्येक शब्द में उपलब्ध होते हैं। जान पड़ता है कि इस कवि ने जिस वस्तु का वर्णन किया है उसे अति निकट से देखा है, जिस भाव की अभिव्यक्ति की है उसे इसने स्वयं भी हृदयंगम किया है। जिन शब्दों के प्रयोग यह कर रहा है उनकी शक्ति की परीक्षा इसने अपने निजी अभ्यासों द्वारा भलीभाँति कर ली है और उन्हें इसी कारण पूर्ण विश्वास के साथ व्यवहार में ला रहा है।

विद्यापति एक श्रृंगारी कवि हैं इसलिए उपर्युक्त सभी बातों के उदाहरण हमें स्वभावतः उनके द्वारा किये गए नायिका के नख-शिख वर्णनों तथा उनकी विविध यौवनोचित चेष्टाओं के चित्रणों में ही मिला करते हैं। उनकी प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति की भी परख नायक-नायिकाओं के पारस्परिक प्रेम संबंधी वर्णनों में ही संभव है। अतएव, 'पदावली' के आधार पर यहाँ, सर्वप्रथम, उनकी कल्पनाशक्ति तथा सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देकर आगे उनके प्रेमानुभव की भी चर्चा की जायगी।

(क) सुंदर कल्पना—

नेत्र—देवी की वंदना करते समय कवि ने भैरवी के भयावने रूप का जहाँ वर्णन किया है वहाँ उसके श्याम शरीर में क्रोध के कारण लाल-लाल दीख पड़ने वाले दोनों नेत्रों को लक्ष्य कर वह कहता है—

सामर वरन नयन अनुरंजित, जलद जोग फुल कोका[1]।

अर्थात् सांवले शरीर में ये लाल नेत्र इस प्रकार शोभित हो रहे हैं जैसे जल से पूर्ण मेघों के संयोग से यहाँ पर दो रक्त कमल विकसित हो उठे हैं। श्याम घटाडंबर के मध्य रक्त कमलों का खिलना दर्शाना एक विलक्षण कल्पना है। किसी नवयौवना के काजल-भरे चपल नेत्रों को लक्ष्य कर, इसी प्रकार, यह कवि एक अन्य स्थल पर कहता है—

सुंदर बदन चारु अरु लोचन,
काजर-रंजित भेला।
कनक कमल माँझ काल भुजंगिनि,
स्रीयुत खंजन खेला[2]।

अर्थात् सुंदर मुख मंडल पर, उससे भी सुंदर नेत्रों में, काजल दिया

१—श्री बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति पदावली' (सं० १९८९ संस्करण) पृ० ४,

२. वही, पृ० २१।

हुआ है और ये नेत्र (काजल से रँग जाने के कारण) ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो अपनी स्वाभाविक चंचलता के साथ-साथ काली नागिन की शोभा से भी संपन्न होकर, दो खंजरीट स्वर्णकमल पर बैठे परस्पर खेल रहे हों। यहाँ पर नेत्रों को केवल खंजरीट कह देने मात्र से कहीं कोई उन्हें निर्दोष भी न समझ बैठे अतएव काले रंग के व्याज से ज़हरीली नागिन के विषैले प्रभाव का भी उनमें आरोप कर दिया गया है। ऐसे ही नेत्रों के विषय में अन्यत्र वह इस प्रकार भी कल्पना करता है—

चंचल लोचन बाँक निहारए, अंजन सोभा पाए।
जनि इन्दीवर पवन-पेलल, अलि भरे उलटाए[1] ॥

अर्थात् काजल दिये हुए नेत्र, चपल होने के कारण, नायिका की तिरछी चितवन के अवसर पर यों शोभित होते हैं, मानो कमल के फूल हवा के झोंके लगते ही अपने ऊपर (कमल कोश के भीतर) बैठे हुए भ्रमर के भार से कुछ उलट से गए हों। आंतरिक उत्सुकता द्वारा प्रेरित स्वभावतः चंचल नेत्रों का काजल के कारण, कुछ झुकते हुए झट अपनी इष्ट वस्तु की ओर फिर जाना और साथ ही उनके ऊपरी पलकों का भी कुछ नीचे आ जाना कमल-कोशों के सहसा उलट जाने के द्वारा बड़े सुंदर ढंग से दिखलाया है। यही नहीं, स्नान करते समय काजल के धुल जाने पर भी नायिका के सुंदर नेत्रों का कवि ने एक और ही अनोखे प्रकार से वर्णन किया है। उसका कहना है—

नीर निरंजन लोचन राता।
सिंदुर मँडित जनि पंकज-पाता[2] ॥

अर्थात् पानी द्वारा काजल के धुल जाने पर भी (देर तक स्नान करने के

---

१. वही, पृ० २६।
२. वही, पृ० ३५।

कारण) लाल-लाल हो गए नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे वे सिंदूर से मंडित वा भूषित कमल की पँखुरियाँ हों। पद्य की अंतिम पंक्ति में कवि की निरीक्षण शक्ति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। कुछ देर तक डुबकियाँ लगा-लगाकर स्नान करने के उपरांत नेत्रों का जो एक विलक्षण लाल रंग हो जाता है, उसके विषय में कवि की यह उक्ति बहुत ठीक जँचती है।

मुख-मंडल—कवि ने नायिका के मुखमंडल के विषय में भी जो उक्तियाँ की हैं उनसे भी उसकी कल्पनाशक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। जैसे,

सजनी, अपरुप पेखल रामा।
कनक-लता अवलम्बन ऊअल
हरिन-हीन हिय-धामा ॥[1]

अर्थात् हे सखी, मैंने एक अपूर्व रमणी देखी; उसके देखने से जान पड़ता था, जैसे सोने की किसी लता के ऊपर बिना हिरणचिह्न वा लांछन का चंद्रमा उदय हो आया हो। यहाँ पर मुख-मंडल का स्वर्णलता के ऊपर विकसित हुआ बतलाना और फिर उसकी तुलना (स्वर्णमयी आभा के आधिक्य से नेत्र तथा भ्रू आदि की स्वाभाविक कालिमा के कुछ तिरोहित से हो जाने के कारण) उस चंद्रमा के साथ करना जिसमें हिरण के चिह्न वर्त्तमान न हों, अच्छी उक्ति है। इसी प्रकार, वैसे ही मुखमंडल को स्नानोपरांत पोंछे जाने पर, यह कवि किस भाव के साथ उसे सुंदर समझता हुआ जान पड़ता है—

बदन पोंछल परचूरे;
माँजि धएल जनि कनक मुकूरे।[2]

---

१. वही, पृ० २६।
२. वही, पृ० ३४।

अर्थात् भलीभाँति पोंछ दिया हुआ नायिका का मुखमंडल ऐसा जान पड़ता है, जैसे कोई सुनहले रंग का दर्पण माँज कर रख दिया गया हो। चेहरे की दमकती हुई स्वच्छ सुनहली आभा की तुलना के लिए सुनहले दर्पण की काल्पनिक सृष्टि कर लेना भी एक विलक्षण उक्ति है।

केश—रमणी के केशों के विषय में भी किये गए बहुत से सुंदर काल्पनिक वर्णन हैं, किंतु यहाँ पर किसी सद्यःस्नाता स्त्री के बालों के छोरों से गिरते हुए जल को देख कर कवि ने जो कल्पना की है, उसकी एक बानगी इस प्रकार है—

चिकुर गरए जलधारा.
जनि मुख-ससि-डर रोअए अँधारा।[1]

अर्थात् जान पड़ता है, नायिका के मुखमंडल-रूपी चंद्रमा के भय से इन काले-काले केशों के वेश में स्वयं अंधकार ही रो रहा है। वास्तव में, मुखमंडल की ओर इतस्ततः बिखरे हुए केश स्नानोपरांत सँभाल कर पीछे कर भी दिये जाते हैं!

रोमावलि—इसी प्रकार किसी रमणी की रोमावली के विषय में भी इस कवि की एकाध कल्पनाएँ देखिए—वह कहता है,

माझ-खीनि तनु भरे भाँगि जाए जनु,
विधि अनुसए भेल साजि।
नील पटोर आनि अति से सुदृढ़ जानि,
जतन सिरिजु रोम राजि॥[2]

अर्थात् बीच में क्षीण वा पतली कटि शरीर के भार से कहीं टूट न जाय, इस आशंका से ब्रह्मा ने उसे नीले एवं दृढ़ रेशमी धागे से निपुणता के साथ कसकर बाँध दिया है, और वही नीला धागा यहाँ रोमावली के रूप में हमें दीख पड़ रहा है। अथवा,

---

१. वही, पृ० ३३।
२. वही, पृ० ३०।

नाभि बिवर सय लोम लतावलि,
भुजगि निसास-पियासा।
नासा-खगपति-चंचु भरम-भय,
कुचगिरि संधि निवासा ॥[1]

अर्थात् युवती की गंभीर नाभि के ऊपर जो रोमों की क्रमबद्ध पंक्ति दीख पड़ती है वह, जान पड़ता है, कोई सर्पिणी है जो अपने विवर (नाभि रूपिणी बिल) से निकल कर उक्त रमणी की (सुगंधित) श्वास वायु पीने की अभिलाषा से ऊपर की ओर चली थी, किंतु उस (स्त्री) की ही सुंदर नुकीली नाक को देखकर उसे सहसा पक्षिराज गरुड़ का भ्रम हो गया, और वह (उसके द्वारा निगल लिये जाने के) भय के मारे पर्वतवत् दीख पड़ने वाले नायिका के दोनों कुचों के मध्य में ही आकर (संकीर्ण स्थान में) ठहर गई। रोमावलि का वहाँ तक पहुँचने के पहले ही समाप्त भी हो जाना स्वाभाविक है।

शरीर—कवि ने रमणी के संपूर्ण शरीर के वर्णनों में भी बहुत सी अनूठी उक्तियाँ की हैं; जिनमें से दो-तीन उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं—

ससन-परस खसु अम्बर रे
देखल धनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे
जनि बिजुरी रेह ॥[2]

अर्थात् पवन स्पर्श के कारण अंचल के खिसक जाने से आज मैंने (उस) रमणी का शरीर देख लिया, जान पड़ता है, मानो जल से भरी हुई नवीन मेघमाला के नीचे कोई बिजली की रेखा संचरण कर रही हो; अथवा,

---

१. वही, पृ० २२।
२. वही, पृ० ४१।

कनक-लता जनि संचर रे,
महि निर अवलंब।[1]

अर्थात् उसका शरीर ऐसा जान पड़ता है, मानो सोने की कोई लता पृथ्वी पर बिना किसी अवलंब वा आधार के ही विचरण कर रही हो। इनमें से प्रथम वर्णन में नीली साड़ी के अंचल के हवा के कारण, अचानक खिसक जाने से किसी रमणी के सुंदर गौर शरीर का एक क्षण के लिए झलक जाना तथा दूसरे में उसीका कनकलता की भाँति कमनीय होने पर भी उसके समान किसी के आधार पर अचलवत् न रहकर विचरण भी करना दिखलाया गया है। दोनों उक्तियों के अंतर्गत नायिका के कृशांगी होने की ओर भी संकेत है जो 'बिजुरी-रेह' एवं कनक-लता के उपमान बन जाने स्पष्ट हो जाता है।

इस कवि ने, इसी प्रकार, एक स्थान पर किसी शुक्लाभिसारिका का वर्णन करते समय चंद्रज्योत्स्ना के प्रकाश में लक्षित होने वाली उसकी रूप-रेखा एवं गति का चित्रण बड़ी सुंदरता के साथ किया है। इसने केवल—

'दूध समुद जनि राजमरालि'।[2]

मात्र ही कहकर, वहाँ पर, बड़े सुंदर एवं स्वाभाविक भावों की सृष्टि कर दी है। चारों ओर स्वच्छ एवं शुभ्र चांदनी इस प्रकार छिटकी हुई है मानो दूध का समुद्र सभी दिशाओं में व्याप्त हो रहा हो और उससे होकर श्वेत वस्त्रादि परिधान किये हुए नायिका इस प्रकार आगे बढ़ती जा रही है, मानो क्षीर सागर से होकर कोई राज-हंसिनी जा रही हो। केवल थोड़े से ही शब्दों द्वारा एक हंसगामिनी शुक्लाभिसारिका का जीता-जागता चित्र सामने आ जाता है। बड़ी ही मनोहर उत्प्रेक्षा है। इस कवि की कल्पना-शक्ति का परिचय दिलाने के लिए ऐसे और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। जान पड़ता है, विद्यापति ने प्राचीन

---

१. वही, पृ० ४१।
२. वही, पृ० १५५।

समय से प्रयोग में आने वाली सामग्री का व्यवहार करते समय भी सदा इस बात को ध्यान में रक्खा है कि जहाँ तक हो सके, उसमें किसी न किसी प्रकार की विलक्षणता का भी आविर्भाव अवश्य हो जाय और इस प्रकार, उसके द्वारा लक्षित होने वाला चमत्कार कई गुना बढ़ सके।

किंतु विद्यापति केवल कल्पना की सृष्टि करके ही नहीं रह जाते, उनकी निरीक्षण-शक्ति भी कम नहीं है। कवि की पैनी दृष्टि सदा वस्तुओं की स्वाभाविक स्थिति का अनुभव किया करती है। उसने स्त्रियों की वयःसंधि, उनके नख-शिख एवं हाव-भावों से लेकर बसंतादि के वर्णनों तक में अपनी इस शक्ति का बड़े सुंदर ढंग से उपयोग किया है। यहाँ पर स्थानाभाव से हम उसके थोड़े से ही उदाहरण देंगे।

(ख) सूक्ष्म निरीक्षण के उदाहरण :—

वयःसंधि—वयःसंधि अर्थात् उस अवस्था का वर्णन करते समय जिसमें स्त्रियों का बालापन उनकी युवावस्था में क्रमशः परिणत होने लगता है, कवि ने जिन दृश्यों तथा भावों का दिग्दर्शन कराया है उनके द्वारा उसकी इस शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वह कहता है,

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल;
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
वचनक चातुरि लहु-लहु हास;
धरनिये चांद कएल परगास।[1]
अति थिर नयन अथिर किछु भेल;
उरज उदय थल लालिम देल।
चंचल चरन चित चंचल भान ;
जागल मनसिज मुदित नयान।[2]

× × ×

१. वही, पृ० ७।
२. वही, पृ० ८।

चउँकि चलए खन, खन चलु मंद ;
मनमथ पाठ पहिल अनुबंध ।

× × ×

बाला सैसव तारुन भेंट ;
लखए न पारिअ जेठ-कनेठ ।[1]

अर्थात् शैशवावस्था और यौवनावस्था—इन दोनों—का सम्मिलन हो रहा है। आँखों ने अब कानों की ओर बढ़ना (अर्थात् उनकी ओर तक विस्तृत होना) आरंभ कर दिया, और इनमें भोलेपन की स्थिरता के स्थान पर चंचलता आ गई। चरणों की चपलता से उसके चित्त की चंचलता का भी पता चलने लगा। बातचीत में कुछ चतुरता और कुछ-कुछ मुसकिराहट का आभास होने लगा। स्तनों के उदय-स्थल पर अब कुछ लालिमा आने लगी। चलते-चलते वह कभी-कभी मानो चौंक सी पड़ती है तो कभी-कभी मंदगामिनी भी हो जाती है। जान पड़ता है, अभी उसने कामदेव की शिक्षापद्धति की भूमिका पहलेपहल आरंभ की है। शैशव एवं तारुण्य की इस मुठभेड़ में यह पता लगाना कठिन हो रहा है कि इनमें कौन सा अधिक बलवान् है अभी दोनों का प्रभाव प्रायः एकसा है। फिर—

मुकुर लई अब करई सिंगार ;
सखि पूछइ कइसे सुरत विहार ।
निरजन उरज हेरइ कत वेरि ;
हँसइ से अपना पयोधर हेरि ।[2]

---

१. वही, पृष्ठ १२ ।
२. वही, पृष्ठ ७ ।

कबहुँ बाँधय कच कबहुँ बिथारि ;
कबहुँ झाँपय अँग कबहुँ उघारि ।[1]

× × ×

अब सब खन रहु आँचर हात ;
लाजे सखिगन न पुछए बात ।

× × ×

सुनइत रस-कथा थापय चीत ;
जइसे कुरंगिनी सुनए सँगीत ।[2]

अर्थात् श्रृंगार करते समय वह अपने सामने दर्पण रख लिया करती है, और सखियों से रति-संबंधी बातें भी पूछा करती है । बार-बार, एकांत में वह अपने नवविकसित कुचों कभी ओर देखा करती तथा उन्हें देख-देख हँसा भी करती है । कभी-कभी अपने केशों को बाँधने लगती है तो कभी-कभी उन्हें खोलकर फैला भी देती है; कभी-कभी अपने अंगों को छिपाती है तो कभी-कभी उन्हें उघार भी देती है । अब उसके हाथ सदा आँचर पर ही रहा करते हैं, और वह लज्जावश अपनी सखियों से बहुत सी बातें पूछ तक नहीं पाती । हाँ, रसीली बातों को अब इस प्रकार ध्यानपूर्वक सुनने लगी है, मानो कोई मृगी संगीत सुन रही हो । कवि ने उक्त पंक्तियों द्वारा नवयुवती नायिका के नवविकसित अंग, उसकी तदनुरूप चेष्टाओं तथा इन सब की सहायता से व्यक्त होनेवाली उसकी आंतरिक मनोवृत्ति का भी परिचय बड़े अच्छे ढंग से दिया है ।

पावस की रात—इसी प्रकार कवि ने नीचे लिखे पद में किसी प्रेमिका द्वारा किये गए भादों की अंधेरी रात के अनुभव का भी चित्र खींचा है; वह कहता है—

---

१. वही, पृष्ठ ८ ।
२. वही, पृष्ठ १० ।

गगन अभ्र घन मेह दारुन, सघन दामिनि झलकई ।
कुलिस पातन सबद झनझन, पवन खरतर बलगई ।
सजनी, आजु दुरदिन भेल ।
कंत हमर नितांत अगुसरि, संकेत-कुंजहि गेल ।।
तरल जलधर बरिख झर-झर, गरज घन घनघोर ।
साम नागर एकले कइसन, पंथ हेरए मोर ।।
सुमिरि मझु तनु अबस भेल जनि, अथिर थरथर काँप ।
इ मझु गुरुजन नयन दारुन, घोर तिमिरहि झाँप ।। इत्यादि ।[1]

अर्थात् नायिका ने किसी सुदूरस्थित संकेत-स्थान पर जाकर मिलने के लिए नायक को पहले से ही बचन दे रखा है, किंतु यहाँ निश्चित अवसर के आते ही आकाश में अनेकानेक निर्दयी बादल घिर आए, बिजली चमकने लगी, वज्रपात की कड़कड़ाहट आरंभ हो गई और इस भयावने दृश्य के समय हवा भी अत्यंत शीघ्रता के साथ सनसनाने लगी। एकाएक दुर्दिन हो आया। अतएव, व्याकुलता से व्यथित होकर नायिका अपनी सखी से कहती है—सखी, क्या कहूँ, बड़ी विवशता है। मेरा प्रियतम आने-जाने में बड़ा उतावलापन दिखलाता है, वह संकेतस्थल पर अबतक अवश्य पहुँच गया होगा। इधर मेघों ने बूँदों की झड़ी सी लगा दी और ये अत्यधिक गरजने भी लगे। मेरा प्रियतम श्याम अकेला बैठा हुआ किस प्रकार मेरी बाट देखता होगा, यह स्मरण कर मेरा शरीर अपने वश में नहीं है, डाँवाडोल होकर थरथर काँपने लगा है। ऐसे समय मेरे हित की बात एक ही दीख पड़ती है और वह यह कि मेरे गुरुजनों की तीव्र दृष्टियों को इस अंधकार ने ढंक सा लिया है। इसलिए, कुछ भी क्यों न हो, अभिसार अवश्य ही करूँगी। उक्त पद में कवि ने नायिका द्वारा, जिस प्रकार, उपयुक्त शब्दों में भयावने दुर्दिन का चित्र खींचा है, उसी प्रकार प्रेमोन्मादिनी नायिका के साहसी हृदय का भी सुंदर दिग्दर्शन कराया है।

---

१. वही, पृ० १५० ।

३

विद्यापति के कवित्व का परिचय हमें उनके प्रेमभाव संबंधी वर्णनों में भी भलीभाँति मिलता है। प्रेम का विषय अत्यंत प्राचीन है और संस्कृत साहित्य में हम अनेक कवियों द्वारा किये गए उसके सुंदर विवेचन एवं लंबी-चौड़ी व्याख्याओं के बहुत से उदाहरण साधारणतः पाया करते हैं। अन्य भाषाओं के कवियों ने भी प्रेमी प्रेमिकाओं के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बहुधा प्रकट होने वाले विविध मनोगत भावों को व्यक्त करने का कई प्रकार से प्रयत्न किये हैं। इस कारण, इस विषय पर किसी कवि का नयी उक्तियों की रचना करना उसकी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है। विद्यापति ने प्रेम संबधी रहस्यों की तह तक पहुँचकर उसका वास्तविक स्वरूप दर्शाने का उद्योग किया है और वह भी ऐसे अच्छे ढंग के साथ कि, उनके रचना-चातुर्य के कारण, सहृदय पाठक उनके भावों को बहुत शीघ्र हृदयंगम कर सकते हैं। 'पदावली' के अंतर्गत आये हुए कतिपय ऐसे प्रसंगों के नमूने हम नीचे देने की चेष्टा करते हैं।

प्रेमी नायक-नायिका को देखता है—प्रथम दृष्टिपात के साथ ही उस रमणी के रूप-लावण्य तथा हावभावों का प्रभाव उसके ऊपर पड़ जाता है। प्रेमी को प्रेम का स्वाद उस समय कुछ न कुछ अवश्य मिलता है, किंतु यह मिठास ऐसी है जिससे कभी तृप्ति ही नहीं होती, वरन् एक नयी पिपासा, जागृत हो उठती है और उसी घड़ी से वह बेचारा किसी मधुर पीड़ा का अनुभव करने लगता है। कवि ने इसी आकस्मिक एवं क्षणिक सुख की मेघमाला में अचानक आकर पुनः सहसा लुप्त हो जाने वाली बिजली के प्रकाश के साथ तुलना की है और साथ ही उसका किसी सेल की भाँति घातक भी होना सिद्ध किया है। उसी के शब्दों में—

सजनी, झलकए पेखन न भेल।
मेघ-माल सयँ तड़ित लता जनि ,
हिरदय सेल दई गेल ॥[१]

अर्थात् काली मेघमालिका के अंतर्गत जिस प्रकार अकस्मात दिखलायी देकर दीप्तिमती विद्युत् उसी क्षण विलीन हो जाती है, और फिर उसकी लुभावनी स्मृतिमात्र ही शेष रह जाती है, उसी प्रकार प्रेमी के अनजान हृदय-प्रदेश में रमणी-दर्शन-जनित प्रेम की एक तीक्ष्ण रेखा चुभ गई है, जो उसे रह-रहकर व्यथित किया करती है। उसे क्लेश इस बात का और भी अधिक है कि वह अपनी प्रेयसी को भरी आँखों देख न सका। उस क्षणिक दृश्य ने उसके भीतर एक अमिट पिपासा के रूप में किसी चिरस्थायी रोग की सृष्टि कर दी। उसके हृदय में इसी बात का पश्चाताप है। आश्चर्य तो यह है कि इस आकस्मिक वार को कोई रोक भी नहीं सकता। एक प्रेमिका अपने इस प्रकार के अनुभव को हमारे कवि के शब्दों में इस ढंग से व्यक्त करती है—

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ,
वारल लोचन चोर।
पिया-मुख-रुचि पिबए धाओल,
जनिसे चाँद चकोर।
ततहुँ सँय हठ हटि मो आनल,
धएल चरनन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए,
तइअओ पसारए पाँखि।[२]

अर्थात् मैं तो अपने मुख को नीचा कर अपने चोर नेत्रों को मना ही

१. वही, पृ० ४०।
२. वही, पृ० ५४।

करती रही किंतु (बड़ी बेबसी की बात है) ये (लाख मना करने पर भी) प्रियतम की मुखकांति-सुधा का पान करने के लिए, चंद्रदर्शनाभिलाषी चकोरों की भाँति लालच में दौड़ ही पड़े । मैंने इन्हें फिर भी एकबार हठपूर्वक हटाया और बल पूर्वक अपने चरणों की ओर झुकाया (अर्थात् फिर भी नीचे की ओर देखने लगी) फिर भी ये बराबर उठते रहने के ही प्रयत्न करते रह गए । सच है, भ्रमर मधु-पान करके मतवाला हो जाने पर, यदि उड़ नहीं सकता तो, कम से कम, अपने पंख अवश्य ही फैलाता रहता है । यहाँ पर कवि ने आँखों के ऊपर वर्तमान भौहों की तुलना भ्रमर के फैले हुए दोनों पंखों से की है । संपूर्ण वर्णन, कई दृष्टियों से, सुंदर स्वाभाविक एवं सजीव है ।

उक्त प्रकार से अकस्मात् और बहुधा रुकावटें डालते रहने पर भी हठात् हृदय-मंदिर में प्रवेश करने वाले प्रेम का अनुभव बड़ा ही विचित्र होता है। कवि ने अपने शब्दों में इसका वर्णन एक नायिका के द्वारा इस प्रकार कराते हुए, अपने भावों को स्पष्ट करने की चेष्टा की है—

सखि कि पुछसि अनुभव मोय ।
से हो पिरित अनुराग बखानिए,
तिल-तिल नूतन होय ।
जनम अवधि हम रूप निहारल,
नयन न तिरपित भेल ।
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल ,
स्रुति-पथ परस न भेल ।
कत मधु-जामिनि रभस गमाओल ,
न बूझल कइसन केल ।
लाख-लाख जुग हिय-हिय राखल ,
तइओ हिय जुड़इ न गेल ।

कत बिदगध जन रस अनुमोदई ,
अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह प्रान जुड़ाएव ,
लाखे न मिलत एक ।[१]

अर्थात् हे सखि, तू मेरा अनुभव क्या पूछ रही है ? (मेरे विचार में तो) सच्चा प्रेम वा अनुराग उसी प्रीति को कहना चाहिए, जो प्रतिदिन नयी होती जाय । मैंने सारे जीवन भर प्रियतम के सौंदर्य का पान किया, किन्तु मेरी आँखें तृप्त नहीं हुई; उसके मधुर शब्दों का मैं सदा रसास्वादन करती रही; किंतु जान पड़ता है कि मेरे कान उनसे अभी अछूते से ही हैं । मैंने अपने प्रियतम के साथ बसंतऋतु की कई एक रातें एकांत में रहकर काट डाली; किंतु फिर भी पता नहीं चलता कि क्या किया, अथवा केलि करना किसे कहते हैं । और तो क्या, मैं तो लाखों युगों तक अर्थात् सदा के उसका हृदय अपने हृदय से लगाए रही, किंतु आज तक मुझे वह ठंडक न मिल सकी जिससे मेरी प्रेम-पिपासा शांत हो सके । करने को तो प्रेम-रस का अनुमोदन कितने ही रसिक सदा किया करते हैं, किंतु (कवि का विश्वास है) इसे भलीभाँति अनुभव कर किसी ने भी नहीं देखा (नहीं तो इसका मर्म वे अवश्य समझते) । ढूँढने पर लाखों में आज तक एक भी रसिक मनुष्य ऐसा न मिला जो कह सके कि प्रेम द्वारा मेरे प्राणों को पूर्ण तृप्ति मिली है । प्रेम का अनुभव ही कुछ विचित्र सा है । कवि के अनुसार प्रेम एक प्रकार की Everlasting thirst वा चिरस्थायिनी पिपासा है जो अनंत काल तक भी शांत होना नहीं जानती और सच्ची लगन का यही रहस्य है ।

विद्यापति ने उक्त प्रेम का अनुभव करने वाली आदर्श प्रेमिका राधा एवं ब्रज की अन्य गोपियों के कथन तथा चेष्टाओं द्वारा इन

१. वही, पृ० २६४ ।

रहस्यों को और भी स्पष्ट करने के प्रयत्न किये हैं। प्रेमोन्मादिनी राधा की उच्छृङ्खलता को दर्शाता हुआ कवि कहता है—

कुल-गुन-गौरव, सति-जस-अपजस,
तृन करि न मानए राधे।
मन मथि मदन महोदधि उछलल,
बूड़ल कुल मरजादे।[1]

अर्थात् राधिका को अपने उच्चवंश की प्रतिष्ठा अथवा अपने सतीत्व संबंधी यश-अपयश की भी कुछ परवाह नहीं, उन्हें वह तिनके के समान समझती है। उसके हृदयस्थित प्रेम-समुद्र में एक प्रकार का ज्वार-भाटा सा आगया है। जिसकारण उसके कुल की मर्यादा तक डूब गई है, वह उसका विचार ही नहीं करती। इस पद्यांश में प्रेमाभिभूत मन की उमंगों की तुलना समुद्र में उठने वाली ऊँची लहरों से की गई है और उसके आधिक्य वा विस्तार द्वारा कुल की मर्यादा अथवा सीमा वा मेंड़ में ढँक जाने से, किसी प्रकार के नियमादि संबंधी बंधनों का एक दम लोप होकर दिखलाई न देना—बड़ी खूबी के साथ चित्रित किया गया है। प्रेमी किसी बंधन की चिंता इसलिए और भी नहीं करता कि उसे किसी बात का भय ही नहीं। कवि इसका कारण भी बतलाता है—

जतओ तरनि जल सोखए सजनी,
कमल न तेजए पांक।
जे जन रतल जाहि सौं सजनी।
कि करत बिहि भए बांक।[2]

अर्थात् जल को सूर्य कितना ही सोखता चला जाय, उसमें उगे हुए कमल को इसकी कुछ भी परवाह नहीं रहती। उसका डंठल अपने

१. वही, पृ० १५८।
२. वही, पृ० २५७।

प्राणाधार कीचड़ का त्याग किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। बात यह है कि यदि किसी की लगन किसी के साथ लग गई हो तो उसका ब्रह्मा तक कुछ नहीं कर सकता। प्रेमी तो अपना सिद्धांत ही यह मानता है—

पेमक कारन जीउ उपेखिए,
जग जन के नहि जाने।[1]

अर्थात् यह सभी जानते हैं कि प्रेम के निमित्ति अपने प्राणों तक की उपेक्षा की जा सकती है। इसी नियम के अनुसार बिना किसी प्रकार कष्टों का विचार किये, अनेक प्रेमिकाएँ अपने प्राणेश्वर से मिलने के लिए बहुधा अभिसार किया करती हैं। कवि ने भादों की अमावस की अँधेरी रात में कृष्ण से मिलने जाने वाली नायिका के विषय में कहलाया है—

माधव, धनि आएलि कतभांति।
प्रेम-हेम परखाओल कसौटी,
भादव कुहु-तिथि राति।
गगन गरज घन ताहि न गन मन,
कुलिस न कर मुख बंका।
तिमिर अंजन जलधार धोए जनि,
ते उपजावति संका।[2]

अर्थात् हे माधव, जानते हो, नायिका यहाँ तक किस प्रकार पहुंची है? भादों की अमावस की अँधेरी रात को ही उसने काली कसौटी समझकर अपने प्रेम-स्वर्ण को उस पर परखा है। आकाश में बादल गरज रहे हैं, और बिजली गिरने तक का भय बना है, किंतु इन बातों की

१. वही, पृ० १८६।
२. वही, पृ० १४७।

उसे तनिक भी परवाह नहीं है। ये संकट उसे किसी प्रकार बाधा नहीं पहुँचा सकते। उसे तो यहाँ आते समय केवल एक ही शंका सता रही थी और वह यह कि कहीं मेघों की जलधारा के कारण, आज की रात का अंधकार न धुल जाय और उसका अभिसार लक्षित होने लगे। प्रेमानुरक्ता कृष्णाभिसारिका के मनोगत भावों का क्या ही अच्छा दिग्दर्शन है! ऐसी ही किसी दूसरी नायिका से एक अन्य स्थल पर, कवि ने इस प्रकार प्रश्न कराया है—कदाचित् उसकी सखि उससे पूछती है—

चरन बेढिल फनि हित मानलि धनि,
नेपुर न करए रोर ।
सुमुखि पुछओं तोहि सरुप कहसि मोहि,
सिनेहक कत दुर ओर ।[1]

अर्थात् कृष्णाभिसार के समय यदि मार्ग में तुम्हें कोइ सर्प मिल जाता है और वह तुम्हारे पैरो में लिपट भी जाता है तो उससे तुम अपनी भलाई ही मानती हो; क्योंकि तुम समझती हो कि इस प्रकार मेरे पैरों में पड़े नूपुरों का बजना तो बंद हो गया। अजी मैं तुमसे पूछती हूँ भला बतलाओ तो सही, क्या ऐसे प्रेम की कभी कोई सीमा भी हुआ करती है, परंतु उससे यह पूछना भी कदाचित् व्यर्थ ही है, क्योंकि यह तो स्वाभाविक बात है—

जकर हिरदय जतहि रातल,
से धसि ततही जाए ।
जइओ जतने बाँधि निरोधिअ,
निमन नीर थिराए ।[2]

---

१. वही, पृ० १५२।
२. वही, पृ० ८०।

अर्थात् जिसका हृदय किसी ओर लग चुका है वह उस ओर अवश्य दौड़ेगा। आप पानी को कितना ही यत्नपूर्वक रोकते रहिए वह जाकर अपने लक्ष्य स्थान अर्थात् किसी नीची ज़मीन तक पहुँचकर ही स्थिर होगा। सच है —

प्रेमक गति दुरवार।[१]

अर्थात् प्रेम की गति कोई रोक वा बाधा नहीं मानती। विद्यापति ने इस प्रकार प्रेम के गूढ़ रहस्यों को एक सच्चे प्रेमी की भांति स्पष्ट करने के प्रयत्न किये है। इस कवि ने जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के स्वाभाविक चित्रण में अपनी कुशलता दिखलाई है और कल्पना के सहारे उसे अधिक व्यक्त करके सजीव कर दिया है उसी प्रकार इसने मानव प्रकृति के भी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को बड़ी निपुणता के साथ स्पष्ट कर उन्हें हृदयंगम करा दिया है।

विद्यापति को अपनी भाषा पर भी बहुत अच्छा अधिकार था। वे किस प्रकार केवल थोड़े किन्तु उपयुक्त शब्दों द्वारा अपने मनोगत भावों को प्रकट कर तदनुकूल प्रभाव डाल सकते हैं इसका कुछ परिचय हम ऊपर दे चुके हैं। उनकी शब्द चयन-विषयक सफलता, शब्द-विन्यास की निपुणता, शब्द-चित्रण-चातुरी तथा, इनके साथ ही, तज्जनित एक विलक्षण पद्य-प्रवाह इनकी कविता को पूर्ण रूप से सजाकर उसे ललित एवं गीतिमय बना देते हैं। इसके पदों में संगीत है, सौंदर्य है और एक ऐसा अद्भुत माधुर्य है जिससे सहसा आकृष्ट होकर हम उनके द्वारा व्यक्त किये गए भावों को हृदयंगम करते समय उन्हें बार-बार दुहराने वा गुनगुनाने से लगते हैं और प्रत्येक शब्द की विशेष अनुरूपता हमें उन्हें अपनाने के लिए बाध्य करने लगती है। हम इस बात के उदाहरण में यहाँ उनके दो पद उद्धृत करते हैं—

---

१. वही, पृ० १५८।

नव वृन्दावन नव-नव तरुगन,
नव-नव विकसित फूल।
नवल बसंत नवल मलयानिल,
मातल नव अलि कूल ॥ २ ॥
विहरइ नवल किसोर।
कालिंदि-पुलिन कुंज बन सोभन,
नव-नव प्रेम-विभोर ॥४॥
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल,
नव कोकिल कुल गाय।
नव जुवतीगन चित उमताई
नवरस कानन धाय ॥६॥
नव जुवराज नवल वर नागरि,
मिलए नव-नव भाँति।
निति ऐसन नव-नव खेलन,
विद्यापति मति माति ॥८॥[1]

और—

सुनु रसिया,
अवन बजाऊ विपिन बसिया ॥२॥
बार-बार चरनाविंद गहि
सदा रहब बनि दसिया।
कि छलहुँ कि होएब से के जाने।
वृथा होएत कुल हँसिआ ॥४॥
अनुभव ऐसन मदन-भुजंगम,
हृदय मोर गेल डसिआ।

---

१. वही, पृ० २३६।

नंद-नँदन तुश्र सरन न त्यागब,
बलु जग होए दुरजसिश्रा ॥६॥ इत्यादि

इनमें से पहले पद में शब्द-माधुर्य की मनोहारिणी छटा है और उसे पढ़ते समय कवि के लिए दी गई 'अभिनव जयदेव' पदवी की सार्थकता तुरंत स्पष्ट हो जाती है। दूसरे पद में किसी ऐसी प्रेमिका गोपी के हृदय का चित्र खींचा गया है जो अपने प्रेमपात्र श्रीकृष्णचंद्र पर पूर्णरूपेण अनुरक्त है। वह उन्हें किसी प्रकार भी त्यागना नहीं चाहती; किंतु सर्वसाधारण के मध्य जो कई प्रकार के प्रवाद चल पड़े हैं उनसे वह उच्चवंशीया होने के कारण, अपने को बचाना भी चाहती है। यह उस पर भलीभाँति विदित है कि जनता वास्तविक बातों की बहुधा जाँच पड़ताल नहीं किया करती, बल्कि योंही किसी एक मनगढ़न्त संबाद को भी लेकर उसकी चर्चा करने लगती है। तदनुसार, उसके तथा श्रीकृष्ण के प्रेम का रहस्य बिना समझे-बूझे ही, अनेक स्त्रीपुरुष बात का बतंगड़ बनाते फिर रहे हैं और केवल एक व्यक्ति के कारण, सारे कुल की मर्यादा पर आघात पहुँच रहा है। वह यह भी अच्छी तरह जानती है कि उसका हृदय श्रीकृष्ण के हाथों बिक सा गया है और वह एक दम विवश है। इस कारण वंशी की टेर सुनते ही वह अपने को किसी प्रकार भी सँभाल न सकेगी। अतएव यही सब सोचती-समझती हुई वह अपने प्रियतम से विनीत प्रार्थना कर रही है। रमणी-हृदय का सच्चा अनुराग तथा उसकी स्वाभाविक आतुरता पद के एक-एक शब्द से प्रकट हो रहे हैं। जान पड़ता है कि, हमारी आँखों के सामने ही अपने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें ऊपर की ओर उठाती हुई, कोई अधीरा नायिका, इस पद को बारबार दुहराकर गिड़गिड़ा रही है और उसका हृदयेश ऊपर कदंब की डाली पर बैठा मुसकिरा रहा है। क्या ही भावपूर्ण चित्र है!

प्रेमी कवि-दम्पत्ति आलम और शेख़

'आलम' नाम के दो भिन्न-भिन्न कवि कहे जाते हैं जिनमें से एक का समय अकबर का शासन-काल है और दूसरे का रचना-काल सं० १७४०-१७७० अनुमान किया जाता है। दोनों की भाषाओं में भी अन्तर दिखलाया जाता है। 'आलम' कवि ने अपनी रचना 'माधवानल-काम कन्दला' के आरंभ में ही कह दिया है,

"जगपति राज कोटि जुग कीजे। साह जलाल छत्रपति जीजै ॥
दिल्लीपति अकबर सुलताना। सप्त दीप महि जाकी आना ॥"
"आगे रहै महामति मंत्री। नृप राजा टोडरमल खत्री ॥"
"सन नव सै इकानबे आही। करौं कथा अब बोलौं ताही ॥"

जिससे स्पष्ट है कि उसे लिखते समय सम्राट अकबर राज्य करता था, जिसका मंत्री राजा टोडरमल खत्री था। वह समय हिज़री सन् ९९१ का था जो गणनानुसार सन् १५८३ ई० अथवा सं० १६४० में पड़ता है। 'आलम' कवि की उपलब्ध रचनाओं में से किसी भी अन्य का रचना-काल दिया गया नहीं जान पड़ता, फिर भी ठाकुर शिवसिंह की पुस्तक 'सरोज' में उद्धृत एक सवैये के आधार पर 'आलम' को सम्राट औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह (शा० का० सं० १७६४-६६) का समकालीन ठहराकर उसका कविता-काल सं० १७४०-१७७० मान लिया गया है।

परन्तु निम्नलिखित वह सवैया जिसे स्व० शिवसिंह ने 'आलम' कृत समझा था, उसकी कृति नहीं सिद्ध होता—

"जानत औलि किताबन कौं, जे निसाफ के माने कहे हैं ते चीन्हे।
पालत हौ इत आलम को, उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे ॥

मोजमशाह तुम्हें करता करबे को दिलीपति हैं वर दीन्हे।
काबिल है ते रहै कितहूँ, कहुँ काबिल होत है काबिल कीन्हे ।[१]

यह रचना लाला जैता सिंह महापात्र की है जो मुअज्जम शाह का दर्बारी कवि था। यह स्वयं उसीके हाथ से लिखे गए एक संग्रह ग्रन्थ में, पहले छंद के रूप में, वर्त्तमान भी पाया जाता है।[२] इसके सिवाय इस सवैये में आया हुआ 'आलम' शब्द भी वास्तव में, किसी कवि का उपनाम न होकर जगत् वा संसार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शिवसिंह स्वयं भी कवि 'आलम' को 'काम कन्दला' का रचयिता मानते हुए जान पड़ते हैं। क्योंकि उस सवैये के पहले जो उन्होंने एक दोहे का उदाहरण दिया है वह निश्चित रूप से उसी रचना का है। 'आलम' कवि के एक ही होने में इस बात से भी सहायता मिलती है कि उसकी एक उपलब्ध रचना 'आलम केलि' में संगृहित शेख़ के कवित्त (छंद सं० १६५)[3] से रचयिता का 'माधवानल काम कन्दला' से परिचित रहना सिद्ध हो जाता है। शेख़ ने उसमें 'काम कन्दला को कामी' का प्रयोग कर संभवतः उसी ओर संकेत किया है।

'आलम' कवि के विषय में प्रसिद्ध है कि वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और जौनपुर जिले के किसी भाग के निवासी थे। वे एकबार एक दोहे की रचना करते समय उसके अर्द्ध भाग तक ही जाकर रुक गए और उसे उस समय पूर्ण नहीं कर सके। उस अंश को उन्होंने एक कागज के चिट पर लिख रखा था जिसे पगड़ी की खूँट में बांध दिया और

---

१. शिवसिंह : 'शिवसिंह सरोज' (लखनऊ, सन् १९२६ ई०, पृ० ९-१०)

२. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : 'आलम' और उनका समय 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० सं० २००२, पृ० ५३)।

३. 'आलमकेलि' (लाला भगवान दीन सम्पादित) काशी, सं० १९७९ पृ० ६९-७०।

वह वैसे ही पड़ा रहा। वह पगड़ी जब रँगने के लिए किसी मुसलमान रंगरेजिन के पास गई तो उसने कौतूहलवश उसे खोल कर पढ़ लिया। रंगरेजिन का नाम 'शेख़' था और वह इस नाम से काव्य-रचना भी किया करती थी। दोहे को अधूरा पाकर उसने उसे अपनी ओर से पूरा कर दिया। इस प्रकार पहले जो केवल "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन" मात्र था वह उसके पूरा कर देने के कारण "कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन" से संयुक्त हो गया। कहते हैं कि उसके इस रचना नैपुण्य से रीझ कर उस ब्राह्मण ने उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। तब से दोनों ही क्रमशः 'आलम' और 'शेख़' के उपनामों से कवि-कार्य में एक दूसरे के सहयोगी बन गए। उपर्युक्त 'सरोज' में 'शेख़' का समय १६८० दिया गया है[1] जो आलम के समय सं० १६४० के पीछे जाता हुआ भी मेल में लाया जा सकता है।

'आलम' रचित ग्रन्थों में इस समय 'माधवानल काम कन्दला' और 'आलम केलि' के अतिरिक्त दो और भी उपलब्ध हैं जिनमें एक 'श्याम सनेही' और दूसरा 'सुदामा चरित्र' है। इनमें से 'आलम-केलि' को छोड़कर शेष तीनों प्रबन्ध काव्य हैं। आलम केलि-आलम के फुटकर रचनाओं का संग्रह है, जिसमें शेख़ की रचनाएँ भी एक अच्छी संख्या में हैं। स्व० लालाजी द्वारा सम्पादित संस्करण के देखने से पता चलता है कि उसमें संगृहीत रचनाएँ भिन्न-भिन्न शीर्षकों में विभाजित हैं जो अधिकतर रीतिकालीन क्रम का अनुसरण करते जान पड़ते हैं। इस प्रकार के शीर्षक कवि विद्यापति की संगृहीत पदावलियों में भी दीख पड़ते हैं। इस कारण यह आवश्यक नहीं कि विभाजन का ऐसा कार्य कभी पीछे चलकर भी किया गया हो और उसकी प्रामा-

---

१. शिवसिंह 'शिवसिंह सरोज' (लखनऊ सन् १६२६ ई०) पृ० ४६७।

णिकता संदिग्ध हो। यह हो सकता है कि स्वयं आलम वा 'शेख़' ने ऐसा नहीं किया होगा, प्रत्युत किसी दूसरे ने ही उनकी इन रचनाओं को क्रमबद्ध कर देना ठीक समझा होगा। इस संग्रह में कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो देवी, शिव, रामलीला, शांतरस आदि से सम्बंध रखती हैं, किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं। 'आलमकेलि' का प्रधान विषय शृंगार रस में सराबोर प्रेम-जन्य भावों का व्यक्तीकरण है। ऐसी रचनाओं पर यत्र-तत्र विद्यापति, सूरदास तथा रसखान का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है। वात्सल्य भाव में भी सूर का अनुकरण है।

'आलम' की प्रबंधमयी रचनाओं में 'श्याम सनेही' एक वर्णनात्मक प्रसंग है जिसमें रुक्मिणी-विवाह की कथा है। कवि उस प्रणय संबंधी घटना को ही विविध वर्णनों द्वारा विस्तार दे दिया है[1]। प्रेमी कवि इस रचना के अंतर्गत कहीं-कहीं एक भक्त का रूप भी धारण कर लेता है और इस विषय में कह भी देता है,

प्रेमरु भक्ति ताहि मन भावै।
करै कंठ जग सोया पावै॥

उसने प्रेम भक्ति को प्रधानता देते हुए अपने लिए जीवन का आदर्श भी यही चुना है—

आलम जीवहु जो पलक, इहि चंचल ससांरु।
दै अहार पोषहु मनहि, प्रेम भक्ति आधार॥

'आलम' की दूसरी प्रबन्ध रचना सुदामा-चरित है। उसमें भी श्रीकृष्ण के ही जीवन की एक झाँकी दिखलाई गई है। 'आलम' के पहले नरोत्तमदास ने अपनी इसी नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो बहुत

---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : 'आलम की कृतियाँ' (नागरी प्रचारिणी पत्रिका) वर्ष ५२ सं० २००४, पृ० ११३-१४।

प्रसिद्ध है। कथा के विचार से इन दोनों कवियों की रचनाओं में विशेष अंतर नहीं है, किन्तु रचना शैली इनकी भिन्न-भिन्न है। नरोत्तमदास ने जहाँ उसे कवित्त सवैयों द्वारा ब्रजभाषा में लिखा है, वहाँ 'आलम' ने उसे 'रेखताबंद' कर दिया है।[1] 'आलम ने अपनी इस रचना को भी सफलतापूर्वक निभाया है, किन्तु नरोत्तमदास की पुस्तक अपने सुंदर संवादों के कारण इससे अधिक आकर्षक हो गई है। 'आलम' ने यहाँ पर भी अपनी उस प्रेम-भक्ति को ही न्यूनाधिक प्रकट किया है उसका संकेत उनके 'श्याम सनेही' में मिलता है।

'आलम' कवि की सबसे महत्वपूर्ण रचना उनकी 'माधवानल काम कन्दला' नाम की प्रेम कहानी है जो एक प्रबन्ध-काव्य है। प्रेम-कथा की परंपरा आलम कवि के पहले से ही आ रही थी और उसके उस समय तक एक से अधिक रूप चल रहे थे। सबसे प्राचीन प्रेम गाथाएँ वे समझी जाती हैं जो लोकगीतों के रूप में अधिकतर पश्चिम भारत में प्रचलित रहीं और जिनमें से एक का उदाहरण प्रसिद्ध 'ढोला मारूरा दूहा' के रूप में प्रकाशित भी हो चुका है। उनका एक दूसरा रूप उन प्रेम कहानियों में दीख पड़ता है जिन्हें विशेषकर—मुस्लिम सूफ़ी कवियों ने लिखा है और जिनका उद्देश्य उपदेशात्मक है। इसका एक तीसरा रूप इसी प्रकार उन प्रेमाख्यानों में दिखलाई देता है जो पौराणिक रचनाओं में पाए जाते हैं और जिसके उदारहण में 'उषा-अनिरुद्ध' अथवा 'नल-दमयंती' की प्राचीन कथाओं का समावेश किया जा सकता है। इन तीनों में से प्रथम और तृतीय वर्ग की कहानियों का कथानक, उनकी वर्णन शैली और चरित्र-चित्रण आदि सभी बातें भारतीय रंग की

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'आलम की कृतियाँ' (नागरी प्रचारिणी पत्रिका) वर्ष ५२ सं० २००४ पृ० ११४-१५।

होती है। उनमें नायक और नायिका ये शुद्ध प्रेम भाव का यथासंभव स्वाभाविक वर्णन रहता है और कभी-कभी उनमें अधिक रोचकता लाने के लिए कतिपय चमत्कारपूर्ण घटनाएँ भी सम्मिलित कर दी जाती हैं। परन्तु दूसरे वर्ग की कहानी द्वैयर्थक हुआ करती है, जिस कारण, उसका रंग-ढंग किसी कथा रूपक के आदर्श पर सजाया गया जान पड़ता है। इसका कथानक भारतीय होने पर भी अभारतीय सूफ़ी अध्यात्मवाद का समर्थक रहा करता है। अतएव उसका अंत भी वैसा ही होता है। इस वर्ग की कहानियों का मूल आदर्श वह शामी परंपरा है जो मसनवी पद्धति की रचनाओं में लक्षित होती है।

'आलम' कवि के समय उक्त तीनों प्रकार की कहानियां प्रचलित थीं। एक चौथी भी थी जो कहीं-कहीं जैन-साहित्य में पायी जाती है और जिसकी रचना का उद्देश्य भी एक प्रकार से किसी धर्मिक उपदेश का प्रदान करना ही जान पड़ता है। परन्तु 'आलम' ने इन चारों में से किसी भी एक पद्धति का पूर्ण अनुसरण नहीं किया। उन्होंने पौराणिक अख्यानों के ढंग का एक कथानक लिया और उसका विकास करते समय प्रसंगानुसार चमत्कारों का प्रवेश लोकगीतों की भाँति किया। कहानी का अन्त दृढ़ प्रेम भाव की विजय तथा महाराजा विक्रमादित्य के परोपकार-कार्य में दिखलाया। पुस्तक का आरंभ करते समय उन्होंने अपने समकालीन सम्राट अकबर का उल्लेख किया और अपनी रचना-काल का निर्देश कर उसकी कथा का मूलाधार संस्कृत साहित्य को बतलाया। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने उसको रचनाशैली के आदर्श में कुछ दूर तक सूफ़ी परंपरा की कहानियों को भी स्वीकार किया। आलम के पहले इस प्रकार की प्रेम कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई थीं वा नहीं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। 'माधवानल काम कंदला रसविलास' नाम की एक रचना इधर अवश्य मिली है जिसके अंत में

"संवत सोलासै बरसि, जैसलमेर मझारि
फागन मास सुहावनै, करी बात विस्तारि"

लिखा है, किंतु जबतक इसकी परीक्षा नहीं की जाती तबतक कोई अंतिम निर्णय करना कठिन है। 'मधुमालती की चौपाई' के रचयिता चतुरभुज दास कायस्थ ने अपनी कहानी के लिए लिखा है,

रसिक होय सुन बरस चाहै । अध्यात्म आतम औगाहै ॥
चातुर पुरुष होइहै कोई । इहै रसकला समझिहै कोई ॥

परन्तु वे तथा उसी प्रकार 'मधुमालती की कथा' के लेखक 'अज्ञात' कवि भी सत्रहवीं शताब्दी से पहले के नहीं ज्ञात होते।[1]

'आलम' कवि इस प्रकार की हिन्दी-रचना के कदाचित् सर्वप्रथम कवियों में थे, उनके विषय में यह एक उल्लेखनीय बात समझी जानी चाहिए। हिंदू-ब्राह्मण से संभवतः मुस्लिम हो जाने पर भी उन्होंने हिन्दू संस्कृति का ही अनुसरण करना अधिक श्रेयस्कर समझा। वे प्रेम भक्ति के एक साधक बने रहे और उसके फलस्वरूप उन्होंने श्रीकृष्ण की कुछ लीलाओं का भी वर्णन किया। 'माधवनल काम-कन्दला' के अन्तर्गत उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध संरक्षक सम्राट विक्रमादित्य का महत्व भी प्रदर्शित किया। इसी प्रकार का एक प्रदर्शन कवि जान ने अपनी कहानी (मधुकर मालती) के अन्तर्गत मुस्लिम संस्कृति के संरक्षक हारूं रशीद का प्रसंग लाकर इससे पचास वर्ष पीछे सं० १६६१ में किया है। 'आलम', प्रेम रस के स्वयं भुक्तभोगी थे जिस कारण पुस्तक रचना के समय उनकी तन्मयता सदा बना रहा करती थी।

---

१. अगरचंद नाहटा : 'मधुमालती नामक दो अन्य रचनाएँ', ('हिन्दुस्तानी' जनवरी, १६३६, पृ० १०२)

इस रचना का संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—पुष्पावती का राजा गोपीचंद धर्मनिष्ठ था और उसके नगर में माधव नाम का एक निपुण एवं रूपवान ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान और संगीतज्ञ था और उसकी वीणा सुनकर स्त्रियाँ मोहित हो जाती थीं। फलतः शांतिभंग की आशंका से लोगों ने उसे वहाँ से हटा देने के लिए राजा से अनुरोध किया, जिसने परीक्षा लेकर उसे निकाल दिया और वह कामावती नगर में चला गया। कामावती नगर में राजा कामसेन की वेश्या कामकंदला रहा करती थी जो एक दिन दर्बार में नृत्य करने गई। माधव उत्सुक होकर उसे देखने गया, किन्तु बाहर ही रोक लिया गया। वहीं से बैठकर सुनते समय उसे मालूम हुआ कि दर्बार के बाहर मृदंग बजाने वालों में से एक की थाप बेताली पड़ रही थी। उसने द्वारपाल से यह बात जना दी जिसने राजा से आकर कह दिया। राजा ने जब जाँचकर इस बात को ठीक समझा तो उसे बुला भेजा। राजा ने प्रसन्न होकर उसे अपना मुकुट तथा दो करोड़ रुपए दिये और उसका गाना भी हुआ जिससे कामकंदला बहुत प्रभावित हुई। फिर जब कामकंदला अपने सिर पर पानी से भरा कटोरा लेकर कठिन नृत्य करने लगी और उसके वक्षः स्थल पर एक मधुमक्खी आ बैठी तो उसे श्वासों की साधना द्वारा उड़ा दिया जिसे केवल माधव ही देख सका और प्रसन्न होकर उसने उसे राजा की दी हुई सारी वस्तुएँ अर्पित कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। राजा के पूछने पर जब माधव ने यह रहस्य प्रकट किया तथा वहाँ के लोगों की अनभिज्ञता भी सिद्ध कर दी तो राजा ने अपमानित होकर उसे अपने नगर से भी निकाल दिया।

परन्तु काम कन्दला उस पर आसक्त हो चुकी थी। इसी कारण उसने इसे प्रेम-कला सीखने के बहाने अपने घर चोरी से रखा। फिर भी यह वहाँ अधिक दिनों तक नहीं रह सका और उसे विरहिणी बनाकर निकल भागा। वह स्वयं भी विरही बन गया था। इस कारण अपनी

वीणा पर विरह के गीत गाता हुआ सम्राट विक्रमादित्य के नगर में जा पहुँचा और वहाँ के मंदिर की दीवार पर उसने एक दोहा लिखा। दोहे को दूसरे दिन पढ़कर महाराज ने उसकी खोज कराई और ज्ञानवती दूती से उसका पता पाकर उससे सारा वृत्तांत जान लिया। सम्राट विक्रमादित्य ने कामकन्दला के लिए कामावती नरेश पर चढ़ाई कर दी और जब इस बात की परीक्षा कर ली कि दोनों प्रेमी एक दूसरे का पूर्ण अभाव सुनकर जीवित नहीं रह सकते तो कामसेन को जीतकर उसने दोनों प्राणियों को मिला दिया। परीक्षा के समय जब सम्राट ने देखा कि एक दूसरे की मृत्यु का समाचार सुनकर सचमुच मर जाता है तो वह स्वयं भी चिता पर मरने के लिए बैठ गया। परन्तु उसके मित्र बैताल ने दोनों प्रेमियों को जिला दिया और तब दोनों एकत्र हो सके।

आलम ने अपनी इस रचना के अंतर्गत अच्छा काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है। इनके रूपक कहीं-कहीं अत्यंत सुंदर है। इन्होंने रागों के विविध नाम गिनाये हैं[1] तथा कर्मवाद एवं कामशास्त्र के रहस्यमयी बातों के भी उल्लेख किये हैं। इस पुस्तक का प्रधान रस श्रृंगाररस ही है, किन्तु वीर एवं वीभत्स तक के एक आध वर्णन उपयुक्त उतरे हैं। फिर भी इसकी विशेषता इसके प्रेम भाव के विशद वर्णन में ही लक्षित होती है। प्रेम ही वस्तुतः इस कवि का प्रधान वर्ण्य विषय है और उसी की व्याख्या उसने अपनी सारी रचनाओं में बड़ी योग्यता से की है 'काम कन्दला' में वे एक स्थल पर कहते हैं—

---

१. सिखों के 'गुरु ग्रन्थ साहब' के अंत में दी गई 'रागमाला' आलम के इस रचना से ही उद्धृत कर ली गई थी। (The Sikh Religion, vol. III (1909) P 65)

आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै वार।
गुपत प्रगट अंखियन मिलै, दियै कपट पट डार॥

अर्थात् उसी प्रेम भाव पर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए जिसमें कपट का पर्दा कुछ भी नहीं रहा करता और सभी कुछ (गुप्त वा प्रकट) आखों से ही स्पष्ट हो जाया करता है। इसी प्रकार मन के प्रेम में उलझ जाने का रहस्य बतलाते हुए वे कहते हैं कि वह वास्तव में एक अनोखी सी बात है, जैसे,

चंद को चकोर देखै निसि दिन को न लेखै,
　　चंद बिन दिन छबि लागति अँध्यारी है।
'आलम' कहै हो आली अलि फूल हेत चलै,
　　काँटे की कटीली वेलि ऐसी प्रीति प्यारी है॥
कारो कान्ह कहत गँवारी ऐसी लागति है,
　　मोहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक तहां रूप को विचारु कहाँ,
　　रीझिबो को पैड़ो तहाँ बूझि कछू न्यारी है[1] ॥१४॥

आलम ने विरह भाव का भी सुंदर वर्णन किया है और उसके प्रभाव का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कहा है—

तातो होती छाती छिनु जड़ियौ ह्वै जात कछू,
　　ताती सीरी राती पीरी बूझि न परति है।
'आलम' कहै हो कान्ह कौन बिथा जानौं वाकी,
　　मौन भई काहू की न कानह करति है॥
आगि सी झँवाति है जू औरी सी बिलाति है जू,
　　छिनु हू न देखे सुधि-बुधि बिसरति है।

---

१. आलम केलि : (लाला भगवानदीन सम्पादित) काशी (सं० १९७९) पृ० ७।

अँसुवनि भीजै औ पसीजै त्यौं-त्यौं छीजै बाल,
सोने ऐसी लोनी देह लोन ज्यों गरति है ॥१०४॥[1]

जिसमें प्रत्येक क्षण में बदलती हुई विरहिणी की देह दशा का चित्रण बड़े उपयुक्त शब्दों में किया गया है। आलम ने विरहावस्था में बार-बार प्रियतम की सुधि के आते रहने का प्रभाव भी बतलाया है। वास्तव में, 'आलम' और 'शेख़' दोनों ही इसके वर्णन में परम निपुण हैं और इस विषय की रचनाएँ दोनों की ही प्रशंसनीय हैं—'शेख़' ने ऊधव के प्रति विरहिणी गोपियों द्वारा कहलाया है कि उस सुधि ने ही उन्हें अपने निश्चय पर दृढ़ कर रखा है। उन्हें चाहे जो कुछ भी उपदेश दिये जायँ, वे अपने हठ से किसी प्रकार डिग नहीं सकतीं। गोपियाँ कहती हैं—

जब सुधि आवै तब तन बिनु-सुधि होत,
बल सुधि आये मन होत पात-पात है।
सेख़ कहै सरद सहेठ के वे गीत गुनि,
बाँसुरी की धुनि नटसाल गात-गात है॥
तुम कह्यौ मानौ उपदेश हम नाहीं कह्यौ,
जैसी एक नाहीं तैसी नाहीं सौक सात है।
पेमु सो विरूधौ जिनि हाहा हियो रूधौ जिनि,
ऊधौ लाख बातन की सूधी एक बात है ॥२१८॥[2]

'आलम' की इस बीच की रचनाओं में एक सवैया बहुत प्रसिद्ध है, और कदाचित् वह एक भी उनके लिए पर्याप्त होगा। जैसे,

---

१. वही, पृ० ४४।

२. वही, पृ० ६१। [पात-पात होना = अत्यंत बेचैन हो जाना, सरेद सहेठ = शरद ऋतु के समय का मिलन-स्थान, नटसाल = कसक]

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन,
ताथल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बात सु,
ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' चैन से कुंजन में करी
केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते,
तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

शृङ्गारी बिहारी

१

बिहारीलाल माथुर चौबे ब्राह्मण थे और इनका जन्म ग्वालियर के निकट वर्त्तमान बसुआ गोविंदपुर नामक गाँव में हुआ था। परंतु इन्हें अपने बचपन में ही किसी कारण बुंदेलखंड के प्रदेश में आना पड़ा जहाँ पर ये अपने विवाह-काल तक रहे। युवावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में रहते रहे जहाँ से ये किसी प्रकार जयपुर नरेश महाराजा जयसिंह (शासनकाल सं० १६७६-१७२२) के दर्बार में पहुँच गए और वहाँ पर अपनी काव्य-रचना द्वारा एक निपुण कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए। कहा जाता है कि इनका संबंध कुछ दिनों के लिए जोधपुर-दर्बार के साथ भी हो गया था। परंतु अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सतसई' का निर्माण इन्होंने कदाचित् जयपुर में ही रहकर किया था और वहीं के महाराज के नाम एवं प्रसंगों के उल्लेख उस रचना में पाये भी जाते हैं। मिश्रबंधुओं ने इनके सतसई-रचना एवं आत्म-परिचय के विषय में लिखे दो दोहे उद्धृत किये हैं[1] जो इस प्रकार है :—

संवत् ग्रह ससि जलधिछिति, छठि तिथि बासर चंद।
चैतमास पख कृष्ण में, पूरन आनंदकंद॥
जनम लियो द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रजआय।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराय॥

जिनसे क्रमशः पता चलता है कि इन्होंने 'सतसई' की समाप्ति सं० १७१९ के चैत्र कृष्णपक्ष में षष्ठी तिथि को सोमवार के दिन की थी तथा

१ 'हिन्दी नवरत्न' (तृतीय संस्करण) पृ० ३३६।

इनका जन्म एक ब्राह्मण कुल में हुआ था और ये कहीं से आकर ब्रजमंडल में बस गए थे। किंतु ये दोहे 'विहारी रत्नाकर' में नहीं है। दूसरे दोहे को प्रामाणिक मानते हुए 'सतसई' के एक टीकाकार ने उसके द्वारा बिहारीलाल के पिता का नाम 'केसव' ठहराया है। उसका कहना है,

श्लेष अर्थ केसव-पिता, अरु हरि केसवराय।[1]

इस बात की पुष्टि एक वंशवृक्ष से भी होती जान पड़ती है जिसे मिश्रबंधुओं ने कदाचित्, बूँदी से लाकर उद्धृत किया है।

बूँदी के कुछ लोग अपने को बिहारीलाल का वंशज बतलाते हैं और संभवतः उन्हीं के पास उपर्युक्त वंशवृक्ष भी मिला है। किंतु इनके वंशवालों का बूँदी से संबंध कब और किस प्रकार हुआ इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि 'विहारी सतसई' के टीकाकार कृष्ण कवि स्वयं बिहारीलाल के ही पुत्र थे और उनकी टीका में महाराज जयसिंह के लिए वर्त्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग हुआ है[2] जिससे यह बात संभव भी हो सकती है। इसी प्रकार 'रसरहस्य' के रचयिता कवि कुलपति मिश्र बिहारीलाल के भानजे कहे जाते हैं और यह संबंध भी, उनके महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह का दर्बारी होने के कारण तथा कुछ काल के लिए उनके बसुआ गोविंदपुर में निवास करने से भी, असंभव नहीं कहा जा सकता।

बिहारीलाल की केवल एक मात्र पुस्तक 'विहारी सतसई' उपलब्ध है जिसमें प्रामाणिक रूप से ७१३ दोहे संगृहीत माने जाते हैं। इसके अंतिम दोहे से स्पष्ट है कि विहारीने अपनी 'सतसई' को 'हरि राधिका के प्रसाद' से 'जयसाहि कौ हुकुम पाइ' पूरा किया था। इसके पहले वा

---

१ 'हिन्दी नवरत्न' पृ० ३३८ पर उद्धृत।

२ पं० रामचंद्र शुक्लः 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (प्रथम संस्करण) पृ० २६४।

पीछे इन्होंने कुछ और भी लिखा था वा नहीं इस बात का पता नहीं चलता। इनके जीवन-काल का अनुमान सं० १६६० और १७२० के भीतर किया जाता है जिससे इनका कविता-काल लगभग ३५-४० वर्षों का समझा जा सकता है। इतनी लंबी अवधि में इस सिद्धहस्त कवि का केवल ७१३ वा ७१९ दोहों की ही रचना करके रुक जाना कुछ आश्चर्यजनक सा जान पड़ता है। फिरभी, बिहारीलाल इन थोड़ी सी ही रचनाओं के आधार पर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते आए हैं। इनके ये दोहे 'नावक के तीर' की भाँति मर्मभेदी समझे जाते हैं और इनका काव्य रसिकों में बहुत आदर है।

'बिहारी सतसई' शृङ्गाररस प्रधान रचना है और इसी कारण, उसके रचयिता की गणना सदा शृंगारी कवियों में ही होती आई है। इस ग्रंथ के अंतर्गत प्रेमी-प्रेमिकाओं के मनोगत भावों की जो गहरी अनुभूति, उनका पांडित्यपूर्ण विश्लेषण तथा एक छोटे से दोहे में आ सकने वाले कतिपय वाक्यांशों द्वारा ही, सुंदर शब्द-विन्यास के आधार पर किया गया, चमत्कारपूर्ण वर्णन आदि बातें दीख पड़ती हैं वह इस कवि की असाधारण प्रतिभा एवं कला-नैपुण्य को प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिए इस कवि को प्रेम वा विरह का कदाचित्, व्यक्तिगत अनुभव नहीं था और न इसका कोई संकेत इसकी रचनाओं में कहीं पर लक्षित होता है। किंतु, जिस प्रकार इसने अपने कतिपय दोहों द्वारा प्रेमिका की तन्मयता[1] अथवा उसकी विरह जनित बेचैनी[2] का सुंदर वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि वह इस विषय से अपरिचित ही न था प्रत्युत उसे प्रकट करने के लिए उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करना भी जानता था। इस कारण हिंदी ही क्या, यदि अन्य भाषाओं के शृंगारी

१. "बिहारीरत्नाकर" दोहे १८, ११६, ५८६ आदि।
२. वही, दोहे १९४, २०६, ३१७, ५२५, आदि।

कवियों के भी साथ हम बिहारीलाल की तुलना करने लगें तो संभव है इनके नाम को बहुत नीचे लाने की नौबत न आवे। इसमें संदेह नहीं कि शब्दों की तोड़-मरोड़, कृत्रिम कलाबाजी अथवा अत्युक्तियों की भरमार प्रभृति अनेक दोषों के कारण, इस कवि की कविता कई स्थलों पर दूषित भी दीख पड़ेगी, किंतु ये बातें अपवादस्वरूप हैं। इन सबके होते हुए भी बिहारीलाल का स्थान हिंदी के शृंगारी कवियों में सदा ऊँचा माना गया है और कुछ ने इन्हें सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि तक कहा है।

परंतु बिहारीलाल केवल शृंगारी ही कवि नहीं थे। उनकी 'बिहारी सतसई' के देखने से पता चलता है कि वे संस्कृत के कवि भर्तृहरि की भाँति शृंगार के अतिरिक्त नीति, भक्ति, वैराग्य, जैसे विषयों पर भी प्रायः एक ही प्रकार की निपुणता के साथ उत्तम कविता कर सकते थे। इन विषयों पर लिखे गए उनके दोहे 'सतसई' के अंतर्गत बिना किसी स्पष्ट क्रम के यत्रतत्र बिखरे हुए से दीख पड़ते हैं और संख्या की दृष्टि से यद्यपि ये सब मिलकर भी शृंगाररस वाले दोहों से कहीं कम हैं फिरभी, काव्य वा उक्ति वैचित्र्य के विचार से, अथवा गहरी अनुभूति वा भावुकता की दृष्टि से, ये उनसे किसी प्रकार घटकर नहीं समझे जा सकते। इनमें बिहारीलाल की रचना-शैली के लगभग सभी गुणों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल सकेंगे। वास्तव में, ये ही दोहे ऐसे हैं जिनके आधार पर हम इस कवि की विचार सरणियों के तारतम्य द्वारा, उसके हृदय का पूरा परिचय भी दे सकते हैं। हमारे साहित्यशास्त्र के विविध नियमों से जानबूझकर जकड़ दी गई शृंगाररस की रचना, कवि के व्यक्तित्व की छाप के होते हुए भी, उसके अंतस्तल के रहस्यों को व्यक्त करने में बहुधा असमर्थ दीखने लगती है और उसके आधार पर हम उस कवि का as a man अर्थात् कवि कौशल से परे एक विशुद्ध मानवरूप में देख नहीं पाते। अन्य रसों के अनुसार की गई कविताओं में इस प्रकार की बाधा बहुधा कम देखी जाती है। यहाँ पर हम कुछ ऐसी ही धारणा के साथ 'सतसई' के सागर में मुक्तकों के

रूप में पृथक्-पृथक् पड़ी हुई, कतिपय कविताओं को एकत्रित कर रहे हैं और यह समझते हुए कि वे मूलतः एक ही हृदय की उपज होने के कारण सुसंगत भी हो सकती हैं, उनके आधार पर इस कवि के सिद्धांतों का कुछ परिचय देने जा रहे हैं।

बिहारीलाल का एक सोरठा और एक दोहा दोनों ऐसे हैं जिनके आधार पर सर्वप्रथम कवि को निर्गुणोपासक समझने का पूरा भ्रम हो सकता है। जैसे—

मैं समुझ्यो निरधार, यह जग काँचो काच सौ;
एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ ॥ १८१ ॥[1]

अर्थात् मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि यह कच्चा अथवा झूठा संसार काँच के समान है, जहाँ एक ही ईश्वर का रूप अपार रूपों में भासित होता है, और सभी पदार्थ उस एक रूप की केवल आभा मात्र हैं। तात्पर्य यह की ईश्वर एक है, और वही एकमात्र सत्य भी है, तथा आँखों द्वारा दीख पड़ने वाले सभी पदार्थ असत्य-रूप हैं। इसी विचार का आश्रय लेकर लोग इस कवि को मायावादी एवं निर्गुणोपासक शंकराचार्य आदि दार्शनिकों के अद्वैतवाद की छाया का भ्रम करके कभी-कभी निर्गुणोपासक समझ बैठते हैं। फिर—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-विसतारन-काल ।
प्रगटत निरगुन निकट रहि, चंग-रंग भूपाल ॥ ४२८॥[2]

अर्थात् यदि ईश्वर को सगुण मानकर उसके अनंत गुणों की प्रशंसा की जाय और उसीके चिंतन में समय लगाया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों उपासक उसके गुणसागर में निमग्न होता जाता है, त्यों-त्यों उसे अपनी क्षुद्रता तथा उपास्य की महत्ता की तुलना करते-

---

१. 'बिहारी-रत्नाकर,' ० ७८ ।
२. वही, पृ० १७५ ।

करते एक महान् अंतर का बोध होने लगता है और इस बात में संदेह आ जाता है कि हम वास्तव में, उसके द्वारा अपनाये भी जा सकेंगे वा नहीं, बात यह है कि गुणावली की वृद्धि के साथ-साथ अंतर में भी वृद्धि होती जाने के कारण ईश्वर और भी अधिक दूर समझ पड़ने लगता है। परंतु, यदि निर्गुण के भाव की ही धारणा मन में रखी जाय तो वह अति निकट सा प्रतीत होता है। इस बात को कवि ने पतंग वा गुड्डी उड़ाने का उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा की है। उसका कहना है कि जैसे पतंग की डोरी को जितना ही फैलाया जाय वह उतना ही हमसे दूर होता जाता है और फिर, उसके समेटने के साथ ही हमारे निकट आता जाता है, उसी प्रकार गुण-संपन्न ईश्वर के विषय में भी कहा जा सकता है। इस दोहे में भी उक्त सोरठे की ही बात को एक दूसरे ढंग से कहा गया है, बल्कि सगुण एवं निर्गुण की उपासनाओं में से किसी एक को पसंद करते समय यह दोहा, स्पष्ट रूप से सुझाव देता हुआ सा भी जान पड़ता है। 'गुण' शब्द इस दोहे की जान है।

परंतु, वास्तव में, उक्त दोनों पद्य कवि के आध्यात्मिक सिद्धांतों के विषय में उसका अंतिम निर्णय नहीं व्यक्त करते। ऊपर के दोहे में उसने कदाचित् जान-बूझकर ही ईश्वर को 'प्रभु' और 'भूपाल' भी कहा है जो अपनी थोथी गुणावली के आडंबरमात्र से ही नहीं रिझाया जा सकता, बल्कि सारी पृथ्वी का पालन-पोषण करने के कारण, वह एक ऐसा सर्वव्यापी स्वामी है जो सबके अंतस्तल की बातें भलीभांति समझता है और जो बिना अपनी स्तुति कराये ही प्रत्येक हृदय के गुण वा अवगुण को स्वयं जाँचने एवं समझने के लिए तय्यार बना रहता है, बनावटी गुण-विस्तार उसे तनिक भी पसंद नहीं। गुड्डी एवं गुड्डी उड़ाने वाले में डोरी का संबंध भले ही रहा करता हो, ईश्वर एवं मनुष्य में बिना किसी गुणावली के भी संबंध स्वतः सिद्ध है। ये दोनों निसर्गतः आत्मीय हैं। यही क्यों, उक्त सोरठे से भी यही भाव स्पष्ट होता है कि संपूर्ण दृश्यमान जगत् सिवाय ईश्वर की आभा-मात्र के और कुछ भी

नहीं। सब पर उसी की मुहर है, जिस कारण, उसके प्रेम में उन्मत्त भक्त को सारे संसार के अंतर्गत अपना इष्टदेव ही देख पड़ेगा। दृश्यमान वस्तुओं पर से उसकी छाप हटा देने पर, वास्तव में, कुछ भी नहीं रह जाता, और फिर भक्त भी तो सब में उसका 'रूप' मात्र ही देखा करता है! अतएव, यदि सच पूछिए तो बिहारीलाल कोई निर्गुणवादी दार्शनिक नहीं, किंतु एक सच्चे भक्त हैं और उनके उपास्य-देव भी श्रीकृष्णचंद्र हैं, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा।

२

सब से पहले कवि ने मंगलाचरण में अपने इष्टदेव के स्थान पर श्री राधा से विनय की है। उनकी स्तुति करते हुए लिखा है कि मुझे संसार के आवागमन की बाधाओं से वे श्रीराधा मुक्त करें जिनके शरीर की आभा पड़ने पर अथवा जिनके द्वारा प्रभावित होकर श्याम का श्रीकृष्णचंद्र तक हरे वा प्रसन्न वदन हो जाते हैं—और यदि हम इसे 'विनयपत्रिका' में की गई गोस्वामी तुलसीदास की प्राथमिक विनयों के समान मानकर इसका भावार्थ यह समझें कि 'मेरे इष्टदेव श्रीकृष्ण को भी प्रभावित कर देनेवाली 'राधानागरी' उन्हें प्रसन्न करने में मेरी सहायिका बनें' तो कुछ अनुचित न होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि कवि 'युगलमूर्त्ति' की उपासना पसंद करता हो और तदनुसार श्रीकृष्ण के पहले उसने श्रीराधा की ही बंदना लिखना आवश्यक समझा हो। युगल-मूर्ति के विषय में उसने अन्यत्र लिखा भी है—

नित प्रति एकत ही रहत, वैस-बरन-मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन जुगल अनेक ॥३३८॥[1]

अर्थात् सदा एक ही साथ रहने वाले उन दोनों की युगल-मूर्त्ति आयु, वर्ण एवं मन—इन सभी बातों—में एक रूप सी होने के कारण और

१ वही, पृ० ६६।

भी अधिक शोभा-संपन्न हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि भक्त की दो आँखें उसे कितना भी देखती रहें, कभी तृप्त नहीं हो सकतीं—उसके अलौकिक सौंदर्य का अनुभव करने के लिए यदि हमें अपने नेत्रों के अनेक जोड़े मिल सकें तो कदाचित्, वह पिपासा शांत हो। परंतु, इतना ही नहीं, कवि ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के मनोहर सौंदर्य का अन्यत्र, स्पष्ट वर्णन भी कर दिया है जिससे पता चल जाता है कि उसे अपने उपास्य देव का कैसा स्वरूप इष्ट था। वह कहता है—

सीस मुकुट कटि-काछनी, कर-मुरली उरमाल ;
इहि बानक मोमन सदा, बसौ बिहारी लाल ॥३०१॥[1]

अर्थात् हे आनंद-क्रीड़ा करने वाले मेरे प्रियदेव, मेरे मनोमंदिर में तुम सदा उस गोप-वेष में ही निवास करो जिसमें सिर पर मोर मुकुट, कटि में काछनी, हाथ में मुरली तथा गले में वनमाला पड़ी हो। तात्पर्य यह कि कवि बिहारीलाल को भी कदाचित्, अपने समसामयिक भक्त रसखान की भाँति उस श्रीकृष्ण से कोई मतलब नहीं था जो निरंतर-मणि-मंडित किरीट धारी एवं चतुर राजनीतिज्ञ द्वारकाधीश हैं। उन्हें श्री वृंदावन विहारी की ही उपासना अधिक प्रिय रही और उसी को लक्ष्यकर उसने इस प्रकार के दोहों की रचना भी की।

बिहारीलाल अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को ही एक मात्र एवं सर्वव्यापक सगुण ईश्वर समझते हैं। इसीलिए, उन्हें भिन्न-भिन्न मत-मतांतर वाले व्यर्थ के झगड़ों से बड़ी 'घृणा है' और वे ऐसी बातों को कुछ भी महत्त्व नहीं देते। उनका स्पष्ट कहना है—

अपनैं-अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोर ;
ज्यौं-त्यौं सबकौ सेइबो, एकै नंद किसोर ॥५८१॥[2]

अर्थात् संसार भर के देवोपासक—चाहे वे वैष्णव, शैव, शाक्त वा किसी

१. वही, पृ० २७।
२. वही, पृ० २४१।

अन्य संप्रदायानुयायी हों—तथा भिन्न-भिन्न मतवादी—चाहे वे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत वा किसी अन्य मतवाले हों—सभी कोई कट्टर बनकर आपस में लड़ते वा व्यर्थ का वाद्-विवाद् किया करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि सब को किसी न किसी रूप में, एक मात्र नंदकिशोर वा श्रीकृष्ण की ही उपासना करना अभीष्ट है। कवि के अनुसार, अखिल संसार ही कृष्णमय होने के कारण, किसी देव की आराधना भी अंत में उसीकी आराधना हो जाती है और सब का लड़ना-झगड़ना कोई अर्थ नहीं रखता। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी तो गीता में कहा है, "अन्य देवताओं के भक्त भी, यदि श्रद्धायुक्त होकर उपासना करते हैं तो उसके विधिपूर्वक न होने पर भी, (पर्याय से) मेरी ही उपासना करते हैं[1]।" कवि का तो यहाँ तक कहना है कि कोरी उपासना की ही दृष्टि से नहीं, किंतु प्रतिदिन के सांसारिक जीवन के विचार से भी सारी विपत्तियों को दूर करने वाले एक मात्र श्रीकृष्ण के सिवाय मुझे किसी भी प्रकार की अन्य संपत्ति से कोई प्रयोजन नहीं। वह कहता है—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार;
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारन-हार ॥६९॥[2]

अर्थात् चाहे कोई करोड़ की संपत्ति इकट्ठी करे, चाहे दस करोड़ की उपार्जन करे, मेरी संपत्ति तो सारी विपत्तियों का नाश करने वाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् हैं, मुझे और किसी भी धन की कुछ भी आकांक्षा नहीं है। यही क्यों, कवि तो इस बात की भी अभिलाषा नहीं करता कि वह प्रयागादि बड़े-बड़े तीर्थों में भ्रमण कर के पुण्यार्जन करे। उसे

---

१. येऽप्यन्य देवता भक्ता, यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय, भजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥२३॥
श्री मद्भागवतगीता (अ० ९)

२. 'बिहारी रत्नाकर,' पृ० ४२।

श्री राधा कृष्ण की युगल-मूर्त्ति का दर्शन मात्र ही, वास्तव में सभी पुण्यों से कहीं बढ़कर है। वह अपने मन को लक्ष्यकर कहता है,

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग ;
जिहिं ब्रज केलि-निकुञ्ज मग, पग-पग होत प्रयाग ॥२०१॥[1]

अर्थात् हे मन, तू तीर्थाटन की अभिलाषा छोड़कर श्री राधाकृष्ण की युगल-मूर्त्ति की शरीर-कांति के प्रति ही अपने को अनुरक्त बनाये रख, क्योंकि अन्य तीर्थों की कौन कहे, स्वयं तीर्थराज प्रयाग तक उन दोनों के विहार कुंजों के मार्ग में केवल एक पग के ही बराबर महत्त्व रखता है। अभिप्राय यह कि श्रीराधा कृष्ण में अनुराग रखने वाले के लिए ब्रज के कुंजों में एक पग तक चलना प्रयाग-स्नान से कम श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। अतः तीर्थाटन का श्रम व्यर्थ है। श्रीकृष्ण के सच्चे भक्तों के लिए इन जैसी ऊपरी बातों की कुछ भी आवश्यकता नहीं; उनका हृदय-मात्र सच्चा होना चाहिए। अतएव, कोरे वेषधारी साधुओं की ओर संकेत करता हुआ कवि यह भी कहता है—

जपमाला, छापैं, तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ॥१४१॥[2]

अर्थात् तिलक, माला, आदि सभी वेष केवल ऊपरी दिखाने के साधन-मात्र हैं; इनसे तथा सच्ची भक्ति से कोई भी संबंध नहीं। इष्टदेव इन बातों की ओर ध्यान न देकर सच्चे हृदय पर ही प्रसन्न होता है। वह कपटी से संतुष्ट नहीं रहता और न उसे अपनी शरण में ही लेता है। सच्ची बात तो यह है कि कपटी हृदय में वह आ सकने में भी असमर्थ है।

---

१. वही, पृ० ८६।
२. वही, पृ० ६३।

कपट का दृढ़ किवाड़ उसके हृदय तक पहुँचने में रुकावट डालता है, उसे घुसने तक नहीं देता—

तौ लगि या मनु-सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट,
बिकट जरे जौ लगि निपट, खुरैं न कपट-कपाट ॥३६१॥[1]

अतएव, उक्त सभी प्रकार की बातों की आलोचना कर चुकने के उपरांत कवि, एक पूर्ण एकनिष्ठ भक्त के रूप में, केवल कृष्णमात्र से ही संबंध रखने का परामर्श देता हुआ, मानों अंत में कहता है—

मनमोहन सौं मोहु करि, तूं घनस्यामु निहारि;
कुंज बिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उरधारि ॥६४१॥[2]

अर्थात् "रे मन, यदि किसी पर मोह करना है तो तू भी मनमोहन से ही मोह कर; क्योंकि और जितने मोहोत्पादक पदार्थ हैं, वे सब अंत को फीके जँचते हैं, पर मनमोहन का मोह सदा चटकीला होता जाता है। यदि तेरी इच्छा शोभा देखने की है तो तू श्रीघनश्याम को ही देख; क्योंकि वह शोभा की अवधि हैं, और उनकी शोभा से मन कभी नहीं भरता। यदि तेरी लालसा बिहार करने की है तो कुंजबिहारी से बिहार कर; क्योंकि और बिहारों से अंत में चित्त को उपराम हो जाता है, पर उनके नए बिहार चित्त को सदैव उत्साहमय तथा आनंदित बनाए रखते हैं। यदि तेरी अभिलाषा किसी को अपने हृदय में धारण करने की है तो तू गिरधारी को ही उर में धर, क्योंकि वह परम भक्त-वत्सल एवं शरणागत का पालन करने वाले हैं। उन्होंने गोबर्धन धारणकर इंद्र के कोप से ब्रज-बासियों की रक्षा की थी।" (रत्नाकर)। भाव यह कि श्रीकृष्ण के भक्त को किसी अन्य का किसी प्रकार का भी आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं।

१. वही, पृ० १५०।
२. वही, पृ० २६३।

२

अन्य बहुत से पूर्ववर्त्ती, समसामयिक वा परवर्त्ती भक्त कवियों की ही भाँति बिहारीलाल ने भी अपने को बड़ा भारी पापी बतलाया है और उसी संबंध से नाता जोड़कर अपने उपास्यदेव श्रीकृष्ण के प्रति अपने उद्धार के निमित्त कई प्रकार से अनुनय-विनय की है। यह कवि अपने को इतना बड़ा पतित समझता है कि इसे भय है कि मुझे तारने के अवसर पर हरि को हिचकिचाहट के कारण अपना पतितोद्धारक बनने का प्रण ही तोड़ना पड़ेगा। वह कहता है—"हे मुरारे एक साधारण गिद्ध को तारकर जो तुमने अपना यश फैला रक्खा था वह मेरे जैसे परचे हुए पापी के सामने आकर ठहर न सकेगा। अब तो मेरे और तुम्हारे बीच एक पूरी होड़ लग रही है। मैं पूर्ण पतित हूँ और तुम पतित-पावन कहलाते हो; अतएव या तो तुम मुझे तार ही दोगे अथवा अपने नाम का परित्याग करोगे। दो में से एक निश्चित सा है।[1] देखो ऐसा प्रबंध करो कि मेरे गुणों वा अवगुणों की गिनती ही न होने पावे और मैं भी औरों के साथ-साथ झमेले में किसी प्रकार तार दिया जाऊँ।[2] मेरी यही अभिलाषा है कि या तो मुझे भी अन्य अधमों की भाँति मोक्ष मिल जाय अथवा यदि बंधन में रखा भी जाऊँ तो अपने इष्टदेव की गुणावली की ही डोर में बँधा रहूँ।[3] इसी प्रकार यह कवि अपने कृष्ण को कतिपय युक्तियों द्वारा भी रिझाकर अपनी ओर फेरना चाहता है। उसका कहना है—"मैंने अपने हृदयरूपी हम्माम को तीनों—आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक—

---

१. वही, पृ० १६ (दोहा २१)।
२. वही, पृ० ६३ (दोहा २२१)।
३. वही, पृ० १०६ (सो० २६१)।

तापों से यह सोचकर तपा रखा है कि संभव है, यहाँ आकर मेरे श्याम कभी पुलकित होकर पसीज जाँय—उन्हें करुणा आ जाय[1]।" अथवा "मैं, इस संसार में रहकर कुटिलता इसलिए करता हूँ कि मेरा हृदय, सरलता के कारण, सीधा न रहने पावे, नहीं तो मेरे त्रिभंगी अर्थात् तीन जगहों से टेढ़े लाल को ऐसे स्थान में रहने पर कष्ट होगा—सीधे संकीर्ण प्रदेश में वक्र वस्तु भला कैसे अँट सकेगी[2]!" कवि अपने इष्टदेव से यह भी प्रार्थना करता है—

> हरि, कीजति बिनती यहै तुमसौं बार हजार।
> जिहि तिहि भाँति डरयौ रह्यौ, परयौ रहौं दरबार ॥२४१॥[3]

अर्थात् हे हरे, देखो, और न कुछ करो तो कम से कम, मुझे अपने दर्बार में ही पड़ा रहने दो। तात्पर्य यह कि मैं मुक्त होकर भी, तुम्हारे यहाँ से अलग रहना नहीं चाहता - ऐसी मुक्ति मुझे नहीं चाहिए।

भक्त बिहारीलाल के उपालंभ बड़े मार्के के नहीं हैं। ये बस इतना ही कहना बहुत समझते हैं कि हे भगवन्, जान पड़ता है, तुम्हें भी आजकल के दानी लोगों की हवा लग गई है, नहीं तो तुम मेरी इतनी उपेक्षा नहीं करते। इन्हें अपनी करतूतों की निकृष्टता का इतना भय है कि ये लज्जित होने के कारण, गोपाल को अपने सामने तक आने देना नहीं चाहते, अन्यथा, संकोच के बहुत बढ़ जाने पर कहीं छिपने का स्थान नहीं मिल सकेगा। ये तो यहाँ तक कह डालते हैं—

> ज्यौं ह्वै हौं, त्यौं होउँगो, हौं, हरि अपनी चाल;
> हठ न करौ, अति कठिन है, मो तारिबौ गुपाल ॥७०१॥[4]

---

१. वही, पृ० ११८ (दो० २८१)।
२. वही, पृ० १७४ (दो० ४२५)।
३. वही, पृ० १०१।
४. वही, पृ० २८६।

अर्थात् हे हरे, मैं अपनी कुचाल के कारण; अपने बुरे-भले कर्मों का फल भोगता रहूँगा। तुम कहीं मुझे तारने के कठिन कर्त्तव्य में हाथ लगाने का हठ न करना। कार्य दुःसाध्य है और असफल होने पर कदाचित्, तुम्हें पछताना पड़ जाय।

बिहारीलाल की भक्ति-भावना द्वारा अनुप्राणित कतिपय सूक्तियाँ भी 'सतसई' के अंतर्गत पायी जाती हैं और वे बहुत सुंदर हैं। उनमें से दो-तीन को यहाँ पर हम उदाहरणस्वरूप उद्धृत कर देना चाहते हैं। जैसे—

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखिन देखी जाहिं ॥४१॥[१]

अर्थात् जिस ज्ञानमय परमेश्वर के हृदयस्थ होने के कारण हम सारे संसार को जानने का दावा किया करते हैं, उस चित्स्वरूप अपने स्वामी का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे, आँखों से हम सब कुछ देखा करते हैं, पर उन (देखने वाली) आँखों को ही देख पाने में असमर्थ हैं। बात यह है कि जानने अथवा देखने की क्रिया में जानने और देखने वाले तथा जानी जाने और देखी जाने वाली—दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं का होना नितांत आवश्यक है। इस कारण, जब दोनों एक हो जाती हों तो उन क्रियाओं का होना ही असंभव है—अर्थात् न जाना जा सकता है और न देखा ही। कवि ने इस बात को बड़े अच्छे ढंग से—उपयुक्त उदाहरण द्वारा—दिखलाकर अपना अभिप्राय स्पष्ट किया है। फिर—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्यामु-रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ ॥१२१॥[२]

अर्थात् इस प्रेम में पगे हुए चित्त की विचित्र बातें समझ में नहीं आतीं।

---

५. वही, पृ० २३।
१. वही, पृ० ५४।

देखो तो सही, यह अनुरागी (अर्थात् रंगीन वा लाल रंग में रँगा हुआ) होकर श्याम सुंदर के रंग-सागर में तो डुबकी लगाता है और वह डुबकी जितनी ही गहरी होती जाती है उतना ही, इसका रंग कुछ और से और होने की जगह उलटा उज्वल हो निखरता जाता है। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद से अनुरक्त होकर भक्त का चित्त अधिकाधिक शुद्ध व निर्मल बन जाता है और इसी बात को कवि ने काले रंग में भी डूबकर उज्वल होने के अद्भुत परिणाम की ओर संकेत कर बड़ी खूबी के साथ समझाया है। इसी प्रकार—

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोइ ;
बसतु सु चित अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होइ ॥१६१॥[1]

अर्थात् श्याम सुंदर की मनोमोहिनी मूर्ति की शक्ति कुछ विलक्षण ही जान पड़ती है। क्योंकि बसती तो वह भक्तों के हृदयों के भीतर है, किंतु उसका प्रतिबिंब सारे संसार में दीख पड़ने लगता है। इसमें आश्चर्य की बात यह है कि किसी वस्तु का प्रतिबिंब दूसरी वस्तु पर तभी पड़ सकता है, जब वह किसी प्रकार के आवरण से आच्छादित न हो। किंतु इस मूर्त्ति की (जो साँवली भी है) कुछ उलटी ही चाल है। यह मनुष्य के अंधकारमय हृदय-मंदिर में रहती हुई भी सामान्यतः प्रतिबिंबित होने वाली वस्तुओं के समान केवल एकाध समीपस्थ वस्तुओं पर ही प्रकाश नहीं डालती, प्रत्युत संपूर्ण जगत् मात्र को ही अपना सा दर्शाने लगती है। तात्पर्य केवल यही है कि कवि के उपास्यदेव श्रीकृष्ण से अनुराग करने पर सारा संसार कृष्णमय ही दीख पड़ने लगता है। किंतु कवि ने इस साधारण से भाव को भी लेकर एक बड़ी चमत्कारपूर्ण उक्ति की सृष्टि कर डाली है। यहाँ पर आकर "एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ" का उल्लिखित भाव और भी स्पष्ट कर दिया गया है।

---

१ वही, पृ० ७१।

४

बिहारीलाल ने अपनी 'सतसई' में कतिपय अन्य कवियों (जैसे कबीर, तुलसी, रहीम, आदि) की पद्धति का अनुसरणकर कुछ नीति-विषयक दोहे भी कहे हैं जो अधिकांश में, उच्च श्रेणी के ही नहीं, अनूठे तक कहे जा सकते हैं। उनसे पता चलता है कि यह कवि कोरे शृंगार में ही मग्न रहने वाला नहीं था; प्रत्युत देश, काल, समाज वा दर्बार आदि की गति का भी निरीक्षण करने में अपनी कुशाग्र बुद्धि का उचित प्रयोग कर सकता था। इस कवि के समाज-संबंधी अनुभवों के अनुसार—'बड़े लोगों को छोटों की अधिक प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि छोटे लोग अंत में, छोटे ही हैं और उनसे बड़ा काम नहीं निकाला जा सकता, जैसे, चूहे के चमड़े से कहीं नगाड़ा नहीं मढ़ा जा सकता[1] और न सोने की भाँति, केवल 'कनक' कहलाने मात्र से ही गुणहीन धतूरा गहने गढ़ने के काम आ सकता है[2]। अथवा, सूर्य की भाँति, 'अर्क' कहलाने वाला मदार कहीं प्रकाश दे सकता है[3]। इसी प्रकार बालों को आप कितना ही सिर चढ़ाए रहिए वे अंत में, आपके पीछे ही पड़े रहेंगे[4]। नीच बढ़ावा देकर आकाश तक क्यों न पहुँचा दिये जायँ उनसे अपनी शक्ति के बाहर की बात कभी नहीं हो सकती—कहीं फाड़-फाड़कर देखने मात्र से ही किसी की आँखें बड़ी नहीं हो जातीं[5] और न कुहारे का पानी नल के अवलंब से ऊपर उठने भर के कारण, चढ़ता ही चला जा सकता है; दोनों को लौटकर अंतता-

१. वही, पृ० ५६ (दो० १३१)।
२. वही, पृ० ८२ (दो० १६१)।
३. वही, पृ० १४६ (दो० ३५१)।
४. वही, पृ० १८५ (दो० ४५१)।
५. वही, पृ० २४४ (दो० ५८२)।

गत्वा, अपने स्वभाव पर ही आ जाना पड़ेगा। नीचों का स्वभाव है कि वे ऊपर से नम्रवत् दीख पड़ने पर भी अवसर पाकर काँटे के समान पैरों में लगकर भी दुःखदायक ही सिद्ध होते हैं[1] और इसी कारण, अपनी बुराइयों के न्यूनाधिक कम हो जाने पर भी उनसे भय ही मालूम होता है, क्योंकि प्रसिद्ध है कि चंद्रमा को कलंक-रहित देखकर ज्योतिषी लोग किसी बड़े भारी उत्पात की संभावना करते हैं[2]। अतएव, कोई नीच यदि किसी को कुछ काल के लिए भला भी जान पड़े तो भी समझना चाहिए कि वह कदाचित्, "भिन्नरुचिर्हिलोकः" की कहावत के अनुसार अपने सीधेपन के कारण, उसकी किसी बात पर तनिक रीझ गया होगा, अन्यथा कौन नहीं जानता कि नीच का सम्मान यदि होता भी है तो केवल घड़ी-क्षण के लिए ही होता है—काक पक्षी का आदर, श्राद्धपक्ष के अनंतर कहीं सुनने में थोड़े आता है[3]। गोबर्धनगिरि तक की पूजा केवल थोड़ी देर के लिए ही हुआ करती है और अंत में, उसकी प्रतिमा को पशुओं के पैरों तले रौंदा जाना ही नसीब होता है।[4] नीच को इस कवि के अनुसार, सदा अनादृत ही रखना चाहिए। इसी में उसकी भलाई है। उसका तो स्वभाव ही है कि वह गेंद के समान, ठुकराये जाने पर भी उछलता हुआ अपने को धन्य ही समझेगा,[5] इत्यादि। कवि का इस विषय पर इतना अधिक लिखना, संभवतः उसके निजी अनुभव वा स्वभाव का परिणाम है।

दुष्ट प्रकृति वाले स्वामी की भलाई के निमित्त अपने ही भाई-बंधुओं को कष्ट पहुँचाने वाले किसी उच्चकुलोत्पन्न सेवक के प्रति संकेत

---

१. वही, पृ० १३० (दो० ३११)।
२. वही, पृ० २४२ (दो० ५८४)।
३. वही, पृ० १७८ (दो० ४३४)।
४. वही, पृ० २८७ (दो० ६६६)।
५. वही, पृ० २०३ (दो० ४६१)।

करते हुए कवि ने एक बड़ी ही उपयुक्त एवं मार्मिक अन्योक्ति की रचना की है जिसके द्वारा उसकी प्रतिभा का उत्कृष्ट निदर्शन होता है। वह कहता है—

स्वारथु, सुकृतु न, स्रमु वृथा, देखि विहंग, बिचारि।
बाज पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि ॥३००॥[1]

इसका सरल अर्थ यह है कि हे आकाश-गामी पक्षी बाज, तू दूसरे के हाथों पड़कर अपनी ही जाति वाले पक्षियों के मारने का इतना भारी अनर्थ क्यों कर रहा है ? भला विचारकर देख तो सही, इसमें न तो कोई तेरा स्वार्थ है, न कोई पुण्य ही; बल्कि यह कार्य तो तेरे लिए नितांत व्यर्थ का परिश्रम-ही-परिश्रम है। किंतु कुछ ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि कवि ने इस छोटे से दोहे के भी द्वारा अपने रचना-कौशल का एक अच्छा परिचय दे दिया है। इस दोहे में कवि ने 'विहंग', 'बिचारि', 'पराएँ पानि परि' तथा 'पच्छीनु' शब्दों वा वाक्यांशों के प्रयोग जानबूझकर किये हैं। 'विहंग' उसी को कहते हैं जो स्वच्छंद रूप से 'बिहायसा' (अर्थात् अकाश द्वारा) विचरण करने वाला हो, अर्थात् जिसका कुसमयानुसार, कुछ काल के लिए भी दासत्व की श्रृङ्खला में जकड़ा जाना उसकी उच्च कुल-सुलभ-प्रतिष्ठा से नीचे गिरना है इस कारण, ऐसी बात उसी को लग भी सकती है। जो स्वभावतः नीच प्रकृति का होगा उस पर इसका पूर्ण प्रभाव कभी नहीं पड़ सकता। 'बिचारि' शब्द भी यहाँ पर इसलिए, प्रयुक्त है कि बाज अथवा सेवक भी कुछ दिनों तक दासवृत्ति में रहने के कारण कदाचित्, अपनी स्वाभाविक चाल वा कुल रीति के गौरव को भूल गया होगा। अतएव, यदि उसे सँभलकर सोच-विचार कर लेने के लिए न कहा जाय तो संभव है, उस पर जैसा

---

१. वही, पृ० १२६।

चाहिए वैसा प्रभाव ही न पड़ने पावे। 'बिचारि' शब्द की गंभीरता, उसके साथ 'देखु' लग जाने से और भी बढ़ जाती है, जिस कारण 'बिचारि देखु' का अर्थ 'भला विचार कर देख तो सही'—इतना—हो जाता है। इसी प्रकार 'पराएँ पानि परि' वाक्यांश में 'पराएँ' शब्द 'पच्छीनु' अर्थात् स्वपक्षवालों से विलगाव अथवा दूर का संबंध बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है जिससे यह शीघ्र बोध हो सके कि करनेवाले का काम सचमुच अस्वाभाविक एवं अनर्थयुक्त है—भला दूसरे के हित के लिए अपने लोगों को पीड़ित करने का अनुचित कार्य कोई किस प्रकार करना चाहेगा? फिर 'पानि परि' अर्थात् 'हाथों पड़कर' से बाज के पक्ष में अपने स्वामी के हाथ पर बैठने का भी बोध हो सकता है। 'पच्छीनु' शब्द भी, पूर्व कथनानुसार, पक्षियों तथा स्वपक्ष वाले – इन दोनों अर्थों—का द्योतक है। इसके सिवाय इस दोहे में यह भी विशेषता है कि इसके प्रत्येक शब्द का क्रम भी बड़ी सावधानी से निश्चित किया गया जान पड़ता है। किसी उद्धत-प्रकृति-संपन्न भलेमानस को समझा-बुझाकर किसी अनुचित कार्य से रोकने का जैसा ढंग हो सकता है ठीक वैसा ही इस दोहे के शब्द-विन्यास से भी सूचित होता है। दोहे को एक बार फिर भी पढ़िए और उसके प्रत्येक शब्द द्वारा क्रमशः पड़ते जाने वाले प्रभाव की ओर भी ध्यान देते चलिए। जैसे—

स्वारथु, सुकृतु न, स्रमु वृथा, देखु विहंग, बिचारि;
बाज पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि।

अर्थात् जबकि सबसे प्रिय स्वार्थ का भाव अथवा उसके अनंतर किसी सत्कार्य वा पुण्य की भावना तक नहीं दीख पड़ती और सारा-का-सारा परिश्रम, इस प्रकार, व्यर्थ ही प्रतीत होता है तो, अय भले आदमी, ज़रा विचार कर देख तो सही, दूसरे (और फिर भी दुष्ट प्रकृति वाले) किसी के हाथ का खिलौना बनकर, अपने भाई-बंधुओं को ही तंग करने का अनर्थ क्यों कर रहा है? ऐसा मतकर; कम-से-कम तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। इस कथन-शैली के साथ ही, क्लिष्ट शब्दों के न आने

तथा थोड़े से ही शब्दों में एक पूर्ण एवं समूचे भाव की सामग्री एकत्र हो जाने के कारण, उक्त दोहे में प्रसाद-गुण और शीघ्र, किसी चोट की भाँति, लक्ष्य को हृदयंगम करा देने वाली गंभीरता—ये दोनों ही बातें—एक साथ आ गई हैं।

गुण-ग्राहकता के विषय में बिहारीलाल का कहना है कि सबसे पहले तो गुणी कहलाकर प्रतिष्ठा पाने की इच्छा करने वाले को ही चाहिए कि वह आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी वास्तविक योग्यता की रीक्षा करले और देखले कि मुझमें उस अपेक्षित गुण का कोई अस्तित्व भी है वा नहीं। भ्रमवश अपनी बड़ाई से प्रेरित हो, बहक कर, खिल उठने वाले गुड़हल के फूल पर यदि भ्रमर नहीं बैठता तो वह भ्रमर की ओर से कोई अन्याय नहीं है, बल्कि उक्त फूल की ही निर्गंधता वा निर्गुणता है।[1] इसी प्रकार अपनी न्यायसंगत प्रतिष्ठा जमाने के लिए सच्चे गुणियों को भी कभी-कभी कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि बिना पतझड़ की विपद् झेले अच्छे से अच्छे वृक्षों में भी नवीन एवं आकर्षक पत्र-पुष्प नहीं आया करते। हाँ, गुणों के होने पर भी यदि गँवार लोग उनका समादर न करते हों तो बात ही और है। जिन्हें निकृष्ट वस्तुओं से ही प्रयोजन है वे भला उत्कृष्ट वस्तुओं का मूल्य क्या समझेंगे ? क्या कहीं गधों से ही अपना काम चला लेने वाले कभी हाथी का व्यापार कर सकते हैं ?[2] और यह भी तो समझने की बात है कि केवल निरादर होने से भी किसी गुणी की वास्तविक महिमा नहीं घटा करती। क्या पीनसरोग वाला कपूर को शोरा समझ कर त्याग देगा तो उसकी शीतलता वा सुगंधि में कोई कमी आ जायगी ?[3] नहीं, क्योंकि आदरणीय मनुष्य का आदर न

१. वही, पृ० ११६ (दो० २८२)।
२. वही, पृ० १८० (दो० ४३६)।
३. वही, पृ० ३१ (दो० ५६)।

करने अथवा उसका निरादर करने से भी उसके गुणों का महत्त्व नहीं घटा करता। सिर पर धारण करने योग्य मुकुट को पाँव में पहनने वाला मनुष्य अपनी ही जड़ता प्रकट करता है, उस मुकुट की गुणहीनता नहीं।[1] फिर सुंदर-सुंदर गुलाब के फूलों के साथ-साथ उसकी कँटीली और सूखी डालों का भी होना विधाता की ही भूल बतलाता है।

५

बिहारीलाल ने कुबुद्धि, कृपणता और लोभ की घोर निंदा की है और राज्यों की द्वैध शासन-प्रणाली (Dyarchy) को प्रजाओं के लिए महा अनर्थ की जड़ बतलाया है। कवि का कहना है—

दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यौं न बढ़ै दुख-दंदु।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि-चंदु ॥३४७॥[2]

अर्थात् सूर्य एवं चंद्रमा की द्वैधता के ही कारण अमावस को सर्वत्र अंधकार दीख पड़ता है। इसी प्रकार, द्वैध शासन भी प्रजाओं के लिए दुःख का कारण होता है। संगति का सदा बराबरी वालों में ही उपयुक्त होना कवि ने सब कहीं ठहराया है। परंतु यदि सौभाग्य से किसी बड़े के साथ भी मैत्री हो जाय तो उसे वह हानिकारक नहीं मानता। बड़ों की संगति की यह विशेषता है कि वह दुरवस्था के प्राप्त होने पर भी, "चोल में रँगे हुए कपड़े"[3] के समान कभी फीकी नहीं पड़ती, प्रत्युत् बराबर चटकीली अर्थात् गहरी ही होती जाती है। मैत्री को स्थायी रूप देने के लिए कवि के अनुसार, यह नितांत आवश्यक है कि रजोगुण से सदा दूर रहा जाय, क्योंकि वह चाहे कितनी भी स्निग्ध वा चिकनी क्यों न हो, रजोगुण की धूल उसे अवश्य दूषित कर देगी। कवि ने कहा है कि

१. वही, पृ० १७७ (दो० ४३०)।
२. वही, पृ० १४५ (दो० ३४७)।
३. वही, पृ० २७४ (दो० ६६८)।

चित्त के कितना भी स्नेह-सिंचित होने पर उसे थोड़ी सी भी रजोगुण की मलिनता विकृत कर देती है।[1] कवि ने इसी प्रकार, नम्रता की प्रशंसा करते हुए भी अपने दृढ़ निश्चय पर डट जाने वाले की ओर संकेत कर चकोर पत्ती के व्याज से एक बड़ी अच्छी अन्योक्ति कही है—जैसे,

चितु दै देखु चकोर त्यों, तीजैं भजै न भूख;
चिनगी चुँगै अँगार की, चुगै कि चंद-मयूख।।५४७।।[2]

अर्थात् अपने निश्चय पर तुले हुए चकोर पत्ती की ओर तो देखिए, वह इतना हठधर्मी है कि भूखा रहने पर भी, यातो वह चंद्रमा की किरणों को पान करेगा अथवा आग की चिनगारियाँ ही चुगेगा; किसी भी तीसरी वस्तु को वह नहीं अपनाता। दृढ़व्रती पुरुष भी, उसीके समान यातो अपना उद्देश्य पूरा करके छोड़ते हैं या मर ही मिटते हैं; कोई बीच का मार्ग उन्हें पसंद नहीं। बिहारीलाल के इस चकोर का स्वभाव देखकर हमें गो० तुलसीदास के चातक का स्मरण हो आता है।

बिहारीलाल ने नीचे दी हुई पंक्तियों द्वारा, समय के फेर वाले नैराश्यमय प्रभाव को किसी भ्रमर-संबंधी अन्योक्ति के व्याज से, बड़े सुन्दर ढंग से, चित्रित किया है—जैसे,

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार;
अब अलि, रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार।। २५५।।[3]

जिसका आशय यह है कि आज के बुरे दिनों में उन बीते सुखमय दिवसों की केवल स्मृतिमात्र अवशेष रह गई है, अब किसी सुख की संभावना नहीं जान पड़ती। परंतु एक इसी प्रकार की दूसरी अन्योक्ति द्वारा कवि ने आशावादिता की भी सुंदर झलक वैसी ही सफलता के साथ दिखलाई है। जैसे—

---

१. वही, पृ० १६२ (दो० ३६६)।
२. वही, पृ० २२६ (दो० ५४७)।
३. वही, पृ० १०७ (दो० २५५)।

इही आस अटक्यो रहतु, अलि गुलाब कैं मूल;
ह्वै हैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥४२७॥[1]

अर्थात् घोर निराशा के अवसर पर भी आशा की किरणों का कुछ दृष्टिगोचर होता रहना अस्वाभाविक नहीं है। फिरभी, समय के फेर का बुरा प्रभाव अपने मन पर अवश्य पड़ता है जैसा कि क्रमशः धन वृद्धि एवं धनह्रास के अवसरों पर पड़ने वाले प्रभावों का रूपक द्वारा चित्रण करने का प्रयत्न स्वयं कवि ने भी किया है। जैसे,—

बढ़त-बढ़त संपति-सलिलु, मन सरोजु बढ़ि जाइ;
घटत-घटतसु न फिर घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥३३१॥[2]

अर्थात् जलरूपी संपति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कमलरूपी मन भी बढ़ता जाता है; किंतु फिर, उस (संपति) के घटने लगने पर वह (मन) घटना नहीं जानता, प्रत्युत, सूखती हुई झील में उगे कमल की भाँति, एकदम कुम्हलाकर नष्ट ही हो जाता है। परंतु ऐसी दशाओं में दैव-दैव मात्र कहकर, निराश हो, बैठ जाने वाले को कवि फिर, एक प्रकार का आश्वासन देता हुआ भी दीख पड़ता है। जैसे,—

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साँईंहिं न भूलि;
दई-दई क्यों करतु है, दई-दई सु कबूलि ॥५१॥[3]

अर्थात् दुःखों के आ पड़ने पर लंबी साँसें न लो और न सुख में परमेश्वर को भूल जाया करो। इसी सहारे पर दुःख एवं सुख-दोनों-की अवस्थाओं में भी मन की स्थिरता बनी रहा करेगी। संपत्ति उसी ने तुम्हें दी है और वही उसे ले भी लेता है। अतएव, यदि चाहेगा तो, वही तुम्हें बिना किसी उद्योग के भी भरा-पूरा कर देगा। जो मिला है उस पर संतोष रखना और व्यर्थ की हाय-हाय में न पड़ना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। एक

१. वही, पृ० १८० ।
२. वही, पृ० १३८ ।
३. वही, पृ० २७ ।

तो धनोपार्जन का फँसाव ही ऐसा है जिसमें जितना भी सुलझाना चाहे, उतनी ही नयी उलझनें बढ़ती जाती हैं और लालची की दशा फंदे में फँसे हरिण की सी हो जाती है; दूसरे इस धतूरे से भी कहीं अधिक मादक द्रव्य की जितनी भी उपेक्षा को जाय उतना ही अच्छा, संपत्ति के प्रति निरपेक्षता दिखलाने का परामर्श देने वाले इस कवि ने यहाँ तक कह डाला है कि इस संसार में द्रव्य की आवश्यकता केवल अपनी लाज बचाने के लिए ही पड़ा करती है। अतएव, यदि परमेश्वर योंही प्रतिष्ठा बनाये रहा करे तो इन अनेक दुर्गुणों से परिपूर्ण बला को भला कौन मोल लेना चाहेगा ?[1] इसी कारण, कवि ने आदर्श कुटुंब उसीको माना है जिसे भोजन-वस्त्रादि भर के उचित सामान, बिना किसी झंझट के समय पर मिलते जाँय और धनोपार्जन के अनर्थकारी झमेले में नाहक फँसना न पड़ा करे। इस बात को एक दूसरी सुंदर अन्योक्ति द्वारा उसने इस प्रकार उदाहृत किया है —

> पटु पाँखैं, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
> सुखी, परेवा, दुहुमि मैं, एकै तुही विहंग ॥६१६॥[2]

अर्थात् हे कबूतर, इस धरातल पर तेरे-जैसा सुखी मुझे दूसरा कोई नहीं दीख पड़ता; क्योंकि एक गृहस्थ-कुटुंब के लिए सब से आवश्यक वस्तुएं केवल वस्त्र, भोजन तथा एक सुशीला गृहिणी हुआ करती है सो तुझे पर्याप्त रूप में प्राप्त हैं। वस्त्र की जगह तेरे शरीर पर सुंदर पंख हैं; भोजन के लिए तू साधारण कंकड़ चुन लिया करता है जो, जहाँ तू बैठ जा वहीं, बिना कष्ट के मिल सकता है; और परों से आच्छादित वा आभूषित तेरी स्त्री भी सदा तेरे साथ ही रहा करती है। एक सुखी पारिवारिक जीवन के लिए तुझे और क्या चाहिए ?

इस प्रकार, यह कवि एक सच्चा व्यवहारवादी है। वह आदर्श-

---

१. वही, पृ० १७२ (दो० ४२१)।
२. वही, पृ० २५७ (दो० ६१६)।

चारिता के ऊँचे शिखर पर चढ़कर सारहीन मनोरथों की मनोरंजक मूर्त्ति गढ़ते रहना नहीं पसंद करता। वह तो स्पष्ट कहता है कि संसार का ऐश्वर्य, वास्तव में, किसी काम का नहीं और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी वस्तु वही सिद्ध हो सकती है जो उसके अवसर पर काम आवे। जेठ की दुपहरी में, पानी की खोज में, सारा मरुस्थल छान डालने वाले प्यासे मारवाड़ी के लिए, यदि अकस्मात् मिल जाने वाला तरबूज़ ही काम आ जाय तो वह उस समय किसी समुद्र से कम नहीं—चाहे समुद्र की अपार जलराशि की प्रशंसा करने वाले कितना भी मुँह क्यों न मारते फिरें[1]। बात यह है—

अति अगाध अति औथरो, नदी, कूपु, सरु वाइ।
सो ताकौ सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥४११॥[2]

जान पड़ता है कि ऐसे ही सिद्धांतों के आधार पर उसने अन्यत्र, सृष्टि के सुंदर एवं कुरूप पदार्थों के विषय में भी अपना निर्णय दिया है। उसका कहना है—

समै-समै सुंदर सबै, रूपु-कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेतीं जितै, तित तेती रुचि होइ ॥४३२॥[3]

अर्थात् वास्तव में, यदि देखा जाय तो यह कहना कि अमुक वस्तु सुंदर है और अमुक कुरूप केवल भ्रममात्र ही है; क्योंकि किसी वस्तु की सुंदरता वा कुरूपता, प्रशंसा वा निंदा करने वाले की मनोवृत्ति पर ही अवलंबित रहती है और वह (मनोवृत्ति) भी बहुधा वस्तुस्थिति अथवा अवसर के अनुसार, सदा प्रभावित होती रहती है। अतएव, इन दोनों—अर्थात् सौंदर्य एवं कुरूपता का सापेक्ष (Relative) होना अनिवार्य सा है।

१. वही, पृ० १५१-२ (दो० ३६६-६७)।
२. वही, पृ० १३६। (दो० ४११)।
३. वही, पृ० १७८। (दो० ४३२)।

देव कवि का प्रेमनिरूपण

१

हिंदी-भाषा के रीतिकालीन श्रृंगारी-कवियों में देव कवि का स्थान बहुत ऊँचा है और कुछ समालोचकों ने इन्हें उनमें सर्वश्रेष्ठ तक ठहराने की चेष्टा की है। वे न केवल इनके काव्यकौशल की प्रशंसा करते हैं, अपितु इन्हें एक बहुत बड़े आचार्य की भी पदवी देना उचित समझते हैं। परंतु इनकी रचनाएं उतनी लोकप्रिय कभी नहीं रही हैं और न उनमें से एकाध को छोड़कर, किसी के अच्छे संस्करण तक निकल पाये हैं। इस कारण उक्त समालोचकों की सम्मति का ठीक-ठीक मूल्यांकन करना बहुत कठिन हो जाता है। इधर कुछ अन्य समालोचकों ने देव कवि को बिहारी तथा, कई बातों में, पद्माकर से भी नीचे स्थान दिया है जिसके फलस्वरूप बिहारी और देव की तथा उसी प्रकार, पृथक्-पृथक् इन दोनों की, अनेक अन्य कवियों के साथ भी तुलनात्मक आलोचना करने की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक लक्षित होती आई है। दो कवियों की भिन्न-भिन्न कृतियों से केवल सुंदर स्थलों को ढूँढ निकालने की चेष्टा में आलोचकों का पूरा ध्यान अभी उनके गंभीर अध्ययन की ओर नहीं जा पाया है और न ऐसे दृढ़ आधार ही मिल सके हैं जिनके बल पर उनके विषय में कोई न्याय-संगत निर्णय किया जाय। कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टियों से क्रमशः विचार कर लेने के अतिरिक्त इन कवियों की प्रमुख विशेषता एवं देन का भी विशद विवेचन होना चाहिए जिसके आधार पर ही इनकी कृतियों का न्यूनाधिक स्थायित्व निर्भर हो सकता है। देव कवि के प्रेमनिरूपण की चर्चा यहाँ बहुत कुछ इसी उद्देश्य से की जा रही है।

देव कवि के प्रपौत्र भोगीलाल द्वारा, संभवतः सं० १८१७ में रचे गए 'बखत विलास' के अनुसार, इनका पूरा नाम देवदत्त द्विवेदी था और ये कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के किसी काश्यप गोत्रीय कुल में उत्पन्न हुए थे। अपनी रचना 'भावविलास' में इन्होंने स्वयं भी अपने को 'द्यौसरिया' कहा है जो कान्यकुब्जों की ही एक शाखा की ओर संकेत करता है। इस पुस्तक से इतना और भी पता चलता है कि ये इटावा नगर के निवासी थे। इन्होंने उसे अपने १६वें वर्ष के आरंभ में निर्मित किया था जिससे उसके रचनाकाल सं० १७४६ के अनुसार, इनका जन्मकाल सं० १७३० में ठहरता है। प्रसिद्ध है कि देव कवि अपने २९वें वर्ष में, इटावा नगर को छोड़कर कुसमरा जा बसे थे और वहीं इनकी मृत्यु भी हुई थी। इस कवि का एक वंशवृक्ष भी मिला है जिसे मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी नवरत्न' ग्रंथ में[1] उद्धृत किया है। उसके अनुसार देव कवि के भवानीप्रसाद एवं पुरुषोत्तम नामक दो पुत्र थे और इन दोनों में से प्रथम के वंशज इटावे में तथा द्वितीय के कुसमरा (ज़ि० मैनपुरी) में आजतक भी वर्त्तमान कहे जाते हैं। इनके वंशधरों में इनके पौत्र शोभाराम और छत्रपति तथा भोगीलाल प्रपौत्र का भी कवि वा काव्यानुरागी होना प्रसिद्ध है।

देव कवि ने अपने सोलहवें वर्ष से लेकर वृद्धावस्था तक पुस्तकें लिखी थीं और धनीमानी लोगों का आश्रय ग्रहण किया था। इनकी रचनाओं की संख्या ७२ तक की बतलायी जाती है। उनमें से केवल एक चौथाई ही अभी तक प्रमाणित समझी जाती हैं। इन १८ ग्रंथों में से भी आजतक लगभग एक तिहाई का प्रकाशन नहीं हो पाया है और वे हस्तलिखित रूप में ही मिलती हैं, उपलब्ध रचनाओं में से सर्वप्रथम अर्थात् 'भावविलास' को इन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक

---

१. 'हिन्दी नवरत्न' (गंगा पुस्तक माला, लखनऊ) पृ० २५८-५९।

'अष्टयाम' के साथ, औरंग़ेब बादशाह के पुत्र आज़मशाह को समर्पित किया था। इसके उपरांत ये फिर कुछ काल तक दादरी के राजाओं के आश्रय में रहे और वहीं के भवानीदत्त वैश्य के नाम पर इन्होंने अपना 'भवानी विलास' ग्रंथ बनाया। इसी प्रकार इनका तदनंतर फफूँद निवासी सेंगर क्षत्रिय कुशलसिंह के यहाँ रहकर 'कुशलविलास', राजा भोगीलाल के आश्रय में निवास करते समय, 'रसविलास' (सं० १७८३), खेरा निवासी राजा उद्योतसिंह के लिए 'प्रेमचन्द्रिका' और दिल्ली के कायस्थ रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि के नाम पर 'सुजानविनोद' का निर्माण करना इन रचनाओं से ही सिद्ध है। इन्होंने अपनी अंतिम पुस्तक 'सुखसागर तरङ्ग' नामक संग्रह को पिहानी के अकबरअली खाँ को समर्पित किया था जिनका शासनकाल सं० १८२४ से आरंभ हुआ था और इस प्रकार ये उस समय तक लगभग ९४ वर्ष के वृद्ध हो चुके थे। कुछ लोगों ने इसके आधार पर यह भी अनुमान किया है इनकी मृत्यु सं० १८२५ के ही आसपास हुई होगी।

देव कवि के जीवनवृत्त की उपलब्ध सामग्री तथा इनके ग्रंथों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ये अधिक दिनों तक एक स्थान पर कभी नहीं रहे और न अपने किसी भी ग्रंथ की रचना इन्होंने किसी नियमित ढंग से की। ये एक योग्य व्यक्ति अवश्य थे, किंतु इनमें व्यवहार कुशलता की कमी थी। अपनी रचनाओं में इन्होंने अपने आश्रयदाताओं का अधिकतर नामोल्लेख मात्र ही किया है। न तो इन्होंने अन्य कवियों की भाँति उनकी प्रशंसा के पुल बाँधने की चेष्टा की है और न इस विषय में वैसा वाक्चातुर्य ही प्रदर्शित किया है, जान पड़ता है कि इन्हें उस कला की पूरी अभिज्ञता न थी जिसके द्वारा उन्हें रिझाकर ये अपने प्रति पूर्णतः आकृष्ट कर लेते और कुछ अधिक समय तक उनका कृपापात्र बने रहकर अपने लिए यथेष्ट ऐश्वर्य का अर्जन कर पाते। इनकी काव्यरचना में चमत्कार की कमी नहीं है और अपनी चुनी हुई सुंदर पंक्तियों को एकसे अधिक संग्रहों में स्थान देने तथा इसके द्वारा

उन्हें अधिक से अधिक प्रचलित करने के लोभ को भी ये संवरण नहीं करते। परंतु, फिरभी लोग उन्हें उस कोटि में नहीं रखना चाहते जो केवल इनीगिनी काव्य कृतियों के ही लिए सुरक्षित है। उनकी चमक में शीघ्र उत्तेजित कर डालने वाली उष्णता का अभाव है और उनका सौंदर्य उस मादकता से रहित है जिसके कारण ही कोई पंक्ति किसी के हृदय-क्षेत्र में रमकर उसकी 'अपनी चीज़' बन जाया करती है। जान पड़ता है कि देव कवि में भी भावुकता से अधिक परिचयात्मक बोध का ही अंश विद्यमान था, क्योंकि अपने सबसे प्रिय विषय नारी जाति तक का वर्णन करते समय ये उसमें स्वानुभूति का गहरा रंग नहीं ला पाये हैं। इनकी 'नारी' सदा नायिका के वेष में उपस्थित होती है और उसके शृंगारिक मनोविकारों का रूप लगभग वही है जो कभी काव्यशास्त्र में निश्चित हो चुका है, प्रेमनिरूपण करते समय इन्होंने प्रायः सर्वत्र इसी नारी की चर्चा की है और इसी के आधार पर उसकी बातें उदाहृत की हैं।

२

देव कवि सर्वतोभावेन शृंगारी हैं और शृङ्गाररस को ये स्पष्ट शब्दों में अन्य सब रसों से श्रेष्ठ बतलाते हैं। इनका कहना है कि कवि लोग इसके नव भेद ठहराने में भूल किया करते हैं, क्योंकि, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि वास्तव में, शृङ्गाररस के ही उत्साह एवं निर्वेद से वीर तथा शांत जैसे रसों की भी उत्पत्ति हुआ करती है। शृंगाररस सभी रसों का मूल है और भावसहित शृंगार में नवो रसों की झलक स्वभावतः दीख पड़ती है। शुद्ध शृंगाररस अनंत आकाश की भाँति व्यापक है जिसमें पक्षियों के समान सदा उड़ान भरते रहने पर भी, अन्य रस उसका पार नहीं लगा पाते।

भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, बीर सान्त सञ्चार ॥१०॥

भावसहित सिंगार में, नवरस झलक अजस्न।
ज्यौं कंकन मनि कनक को, ताही में नवरत्न ।।१२।।
निर्मल स्यामसिंगार हरि, देव अकास अनन्त।
उड़ि-उड़ि खग ज्यौं और रस, बिवस न पावत अन्त ।।१३।।[1]

शृंगाररस को अन्य कवियों और आचार्यों ने भी 'रसराज' की पदवी दी है और उसका विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने नवों रसों में से शृंगार, वीर एवं शान्त को तीन प्रमुख रस भी ठहराया है। परंतु देव कवि ने वीर एवं शान्त के स्थायीभाव क्रमशः उत्साह एवं निर्वेद का मूलस्थान शृंगार में ही निर्दिष्टकर अपने मत का कारण भी दे दिया है।

स्वयं शृंगाररस का स्थायीभाव 'रति' है जिसका परिचय देते हुए ये कहते हैं कि अपने प्रियजन के दर्शन अथवा श्रवण से जो मनोविकार उत्पन्न होता है उसीको सुकवि और आचार्य लोग 'रति' का नाम देते हैं। जैसे,

नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कविन के, सुमति कहत रति सोइ ।।[2]

इसी बात को कहते हुए एक आचार्य ने संस्कृत के "रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्" वाक्य का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'मनोनुकूल वस्तु से प्रभावित होकर उसके प्रति मन के स्वतः उन्मुख हो पड़ने का भाव' समझा जा सकता है, वास्तव में 'शृंगार' शब्द के आदि में जुड़े हुए, 'शृंग' का अर्थ ही यहाँ 'मन्मथोद्भेद' अर्थात् कामभाव की जागृति का होता है, जिस कारण, पूरे 'शृंगार' का अर्थ उस कामोद्दीपन के आगमन वा उत्पत्ति का कारण बतलाया

१. 'भवानी विलास' (भारत जीवन प्रेस, काशी), पृ० २-३।
२. 'भाव विलास' (तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग)।

जाता है तथा उसे ऐन्द्रिय वासनाओं से रहित, शुद्ध तथा उत्तम प्रकृति का भी माना जाता है। जैसे,

> श्रृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।
> उत्तमप्रकृति प्रायो रसः श्रृंङ्गार इष्यते ॥
>
> (साहित्य-दर्पण)

अतएव, श्रृंगाररस के स्थायीभाव 'रति' से अभिप्राय यहाँ पर काम वासना से नहीं, अपितु शुद्ध रागात्मिका वृत्ति से है।

देव कवि ने इस बात को अपने 'रसविलास' के अंतर्गत इस प्रकार भी कहा है—

> युक्ति सराही मुक्ति हित, मुक्ति भुक्ति को धाम।
> युक्ति मुक्ति औ भुक्ति कौ, मूल सु कहिये काम ॥२॥
> बिना काम पूरन भये, लगै परमपद छुद्र।
> रमनी राका ससिमुखी, पूरै काम समुद्र ॥३॥
> तातें त्रिभुवन सुर-असुर, नर-पसु-कीट-पतंग।
> रच्छस-जच्छ-पिसाच अहि, सुखी सबै तिय संग ॥४॥[1]

अर्थात् सारी युक्तियाँ वा साधनाएँ मुक्ति के उद्देश्य से की जाती हैं जिसका अंतिम परिणाम भोग है। किंतु साधना, मुक्ति एवं भोग इन तीनों का मूल 'काम' है जिसके बिना वे रह ही नहीं सकते। काम की पूर्त्ति हुए बिना परमपद तक छुद्र ही लगा करता है अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि परमपद की प्राप्ति से काम की पूर्त्ति भी हो जाय। काम-समुद्र चंद्रमुखी रमणी के समक्ष ही पूरा पड़ता प्रतीत होता है और यही कारण है कि सुरासुर से लेकर कीट-पतंग तक उसे चाहते हैं। काम का स्वरूप ऐसी दशा में शुद्ध और स्वाभाविक हुआ करता है। उसके विकृत रूप के विषय में देव की यह उक्ति नहीं है। वैसे काम

१. रसविलास (भारत जीवन प्रेस, काशी) पृ० १।

द्वारा प्रभावित मनुष्य को तो किसी मर्यादा का भाव ही नहीं होता और वह अंधा बनकर उसी के सहारे चलना चाहता है।

काम अन्धकारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छुरी अनूप ॥१॥[१]

इस प्रकार का काम कामुकता की कोटि में आता है जहाँ पर उपर्युक्त काम की गणना शुद्ध प्रेम के रूप में की जाती है। देव कवि ने विकृत काम को 'विषय' की संज्ञा दी है तथा इसके वशीभूत मनुष्य को 'विषयी' कहा है जो प्रेमी से सर्वथा भिन्न है।

शृंगाररस का स्थायीभाव 'रति' इस प्रकार 'काम' कहलाकर भी शुद्ध प्रेम है। इसका संबंध 'विषय' के साथ नहीं है जिसकारण यह किसी प्रकार निंद्य समझा जाय और देव कवि ने इसीलिए स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

यह विचार प्रेमीन को, विषयीजन को नाहिं।
विषय बिकाने जनन की, प्रेमी छियत न छांहि ॥
विषयी जन व्याकुल विषय, देखैं विषु न पियूष।
सीठी मुख मीठी जिन्हैं, जूठी ओठ मयूष ॥२८॥
प्रेमवती पदुमिनि रहै, मधुकर की रस प्यास।
भूलिमरै अलि धूलि गड़ि, तकि केतकि अभ्यास ॥३१॥[२]
स्वल्प प्रेम वैकल्प ते, तजी अहिल्या कंत।
पंचाली पिय पंचहू, प्रेम सुखद सुचिवंत ॥२७॥[३]

अर्थात् यह क्षेत्र प्रेमियों का ही है विषयी जनों का नहीं है और प्रेमी एवं विषयी मनुष्यों में आकाश-पाताल का अंतर है। विषयी लोग जहाँ

---

१. वही, पृ० ३४।
२. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ७।
३. वही, पृ० ६।

विषय में लिप्त रहकर बेचैन बने फिरते हैं, वहाँ एकनिष्ठ प्रेमी शांति के साथ जीता-मरता है। प्रेमभाव में कुछ कमी रहने के कारण अहल्या ने अपने पति का त्याग कर दिया था, जहाँ द्रौपदी अपने पाँच पतियों के साथ रहती हुई भी शुद्ध प्रेम के कारण, सुखमय जीवन व्यतीत करती रही।

देव कवि के अनुसार यह प्रेम वस्तुतः, दंपति के हृदय में ही जागृत हुआ करता है। इसका बीज वहीं पर भावों के रस द्वारा आर्द्र होकर अंकुरित होता है अथवा स्वर्ण की एक छोटी सी डली से बढ़कर स्वभावतः सुमेरुवत् विशालकाय बन जाता है।

नव दंपति के अनुरूप इस प्रकार वृद्धि पाने वाले प्रेम को ही शृंगार-रस के आधारस्वरूप 'रति' का नाम दिया जाता है। दंपति के सुख का यही प्रेम सर्वस्व हुआ करता है। इसलिए जब तक यह प्रेम नहीं, तबतक शृंगाररस का परिपाक असंभव है। इस प्रेम के बिना शृंगाररस उतना ही नीरस और निःसार हो जाता है जितना कलई किया गया सोना मलिन बन सकता है। संक्षेप में, सभी रसों का सार शृंगाररस है, शृंगाररस का सार प्रेम है और बिना प्रेम के संपति का सुख दुःखवत् है तथा दंपति भी विपति है।

दंपति उर कुरखेत विधि, बीज भीजि रसभाव।
प्रेम हेम ज्यौं होत बढ़ि, ढेर सुमेर सुभाव ॥ १४ ॥
सो सिंगार अधार रति, नव दंपति अनुरूप।
दंपति सुख सर्वसु सदा, पर्वसु प्रेम अनूप ॥ १५ ॥
तबही लौं सिंगाररसु, जब लगि दंपति प्रेम।
मलिन होत रस प्रेम बिन, ज्यों कलई को हेम ॥ १६ ॥
रसनि सार सिंगाररस, प्रेमसार सिंगार।
बिना प्रेम दंपति बिपति, संपति सुख दुखभार ॥ १७ ॥[१]

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ४।

देव कवि के 'दंपति' शब्द का अर्थ यहाँ पर केवल सांसारिक मनुष्यों के पति-पत्नी वाले जोड़े का ही नहीं है, वह स्वयं राधा एवं कृष्ण की युगल मूर्त्ति को भी अपने में अंतर्हित रखता है, जिसकारण, इनके यहाँ पार्थिव-अपार्थिव का भेद भी नहीं इन्होंने प्रेमरस का वर्णन करते समय एक स्थल पर इस प्रकार कहा है—

जाके मद मात्यौ सो उमात्यौ ना कहूँ है कोई,
बूड्यौ उछल्यौ ना तर्यौ सोभासिंधु सामु है।
पीवतही जाहि कोई मार्यो सो अमर भयो,
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख धामु है ॥

चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि,
चाख्यौ ना पियूष कछु ऐसो अभिरामु है।
दंपति सरूप ब्रज औतर्यौ अनूप सोई,
देव कियो देखि प्रेमरस प्रेम नामु है ॥६॥[1]

अर्थात् जिसके पान की मादकता के एक बार चढ़ जाने पर फिर कोई कभी निर्मद नहीं हो पाता और न शोभा के समुद्र में एक बार डूबकर कभी उछलता वा तिरा करता है, जिसके पीते ही कोई मरकर भी अमर हो जाता है और दुनिया द्वारा पागल कहे जाते हुए भी अपने को सुखी समझता है और जो ऐसा मनोहर है कि उसे एकबार अपनी आँखों के चषक (पात्र) में भरकर चख लेने पर अमृत का भी स्वाद लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती वह प्रेमरस ब्रजमंडल में राधा एवं कृष्ण के दंपतिरूप में अवतीर्ण हुआ था और उसी को प्रेम का भी नाम दिया जाता है। प्रेम, प्रेमरस अथवा राधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति सभी एक और अभिन्न हैं। शृंगाररस को इन्होंने काव्य

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ३।

इन्होंने काव्यरचना का सार वा सर्वोत्तम क्षेत्र इसीलिए माना है कि स्वयं उसका भी सारस्वरूप यही दंपति वा 'किसोर किसोरी' है। जैसे,

देव सबै सुखदायक संपति,
संपति दंपति दंपति जोरी।
दंपति सोई जु प्रेम प्रतीति,
प्रतीति कि रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति महागुण गीत बिचार,
बिचार कि बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी॥४॥[1]

३

देव कवि ने उपर्युक्त प्रेम का लक्षण भी बतलाया है कि जहाँ पर प्रेम होता है और उसके कारण पूरी प्रतीति बनी रहती है, वहाँ पर सुख एवं दुःख के अनुभव एक समान जान पड़ते हैं। प्रेमी के तन, मन एवं बचन में सदा प्रीति का ही रंग लक्षित होता है और उसके चित्त में हितैषिता का भाव भी स्वभावतः नये-नये रूपों में जागृत होता रहता है, जैसे—

सुख दुख में है एक सम, तन-मन-बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सु प्रेम प्रतीति॥[2]

इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण इन्हें कुलवधू स्त्रियों में ही मिलता है, क्योंकि उन्हींका हृदय इसके लिए सर्वथा उपयुक्त हुआ करता है। वही स्वभाव से लज्जावती होती है, दयार्द्रहृदया रहा करती है और प्रणय प्रवीण भी हुआ करती है। वही प्रेमवती पद्मिनी मधुकर की रसपिपासा को शांत कर सकती है और वह उस 'षट् पद' के लिए 'परमपद' से कम नहीं है।

---

१. वही, पृ० २।

२. भाव विलास (तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग)।

सहज लाज निधि कुलवधू, प्रेम प्रनय परबीन।
नवयौवन भूषित सदा, सदय हृदय पन पीन ॥३०॥
प्रेमवती पदुमिनि रहै मधुकर को रस प्यास।
सूलि मरै अलि धूलि गड़ि, तकि के तकि अभ्यास ॥३१॥
तथा— पदुमिन तुही षट् पद को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो।[1]

स्वकीया को इन्होंने शृंगाररस की प्रधान पात्री के रूप में स्वीकार किया है। परकीया के प्रेम को ये उच्चकोटि का नहीं मानते। इन्हें भारतीय संस्कृति के प्रभाव में स्वीकृत पातिव्रत धर्म की उत्तमता में पूर्ण विश्वास है। परकीया के प्रेम को ये कच्चा प्रेम कहते हैं और बतलाते हैं कि वह उसी प्रकार अस्थायी होता है जिस प्रकार बालू की भीत हुआ करती है[2]। इस परकीया प्रेम द्वारा ठगी गई किसी नायिका के मुख से इन्होंने एक स्थल पर अपने मन के प्रति, इसीकारण, इस प्रकार कहलाया है,

वारिध विरह बड़ी वारिध की बड़वागि,
बूड़े बड़े-बड़े जहाँ पारे प्रेम पुलते।
गरुओ दरब देव यौवन गरब गिरि,
पर्यो गुन टूटि छूटि बुधि नाउ डुलते॥
मेरे मन, तेरी भूल मरीहौं हिये की सूल,
कीन्हीं तिन तूल-तूल अतिही अतुल ते॥
भावते भोड़ी करी मानिनि ते मोड़ी करी,
कौड़ी करी हीराते कनौड़ी करी कुलते ४४॥[3]

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० ७।
२. वही, पृ० ३० दोहा १०।
३. वही, पृ० ४१।

अर्थात् प्रेम-विरह की बड़वाग्नि में पड़कर जहाँ बड़े से बड़े व्यक्ति तक डूब मरते हैं, वहाँ तेरे कारण बुद्धि की नाव के तनिक डुलते ही, यौवन का गंभीर गर्व चूर-चूर हो गया और सारे गुण हाथ से निकल गए। तेरी भूल के कारण मैं अपने हृदय के शूल से मरी जा रही हूँ और सबकुछ होती हुई भी तृणवत् तुच्छ बन गई हूँ। अरे मन, तूने मुझे मेरे आत्मीयों की दृष्टि में भोंदू बना दिया, स्त्रियोचित मान से रहित कर दिया, हीरा से कौड़ी बना डाला और कुल के सामने कलंकित भी कर दिया। परकीया के प्रेम में दृढ़ता अवश्य रहती है और वह बहुत बड़े त्याग की भी अपेक्षा करता है। परंतु उपपति के प्रेम में अपने को औंटाकर खोवा बना देने[1] के कारण वह अंत में अवगुणकारी ही सिद्ध होती है।

इसके विपरीत स्वकीया को उपर्युक्त प्रकार के पछतावे की आवश्यकता नहीं पड़ती और न वह अपने को नष्ट करती है। वह अपने पति के रातभर अन्यत्र निवास करके घर आने पर भी अधिक दुःख नहीं मानती। स्वकीया खंडिता की आँखें पतिदेव के दर्शनों के लिए रातभर मानो व्रत किये रहती हैं, उसका मन तरस खाकर मरता सा रहता है। अपने प्रियतम के आगमन द्वारा वह अपनी उपवासी आँखों को उसके रूपका प्रातःकाल पारण करा देती है और अपने मन को उसके चरणों का स्पर्श कराकर जीवित कर लेती है। देव कवि उस खंडिता से कहलाते हैं:—

'देवजू दरस बिनु तरसि मर्यो है,
पग परसि जियैगो मन वैरी अनमारनो।
पतिव्रतवती ए उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआयो रूप पारनो ॥ २६ ॥[2]

१. वही, पृ० ३० दोहा ६।

२. 'सुजान बिनोद' (काशी नागरी प्रचारणी सभा) पृ० ३७।

यहां पर इस नायिका के हृदय में अपने पति के प्रति (जो रातभर कहीं बाहर जाकर किसी अन्य प्रेमपात्री के साथ रह चुका होगा) इतना पवित्र भाव दर्शाया गया है जो किसी परकीया के लिए प्रायः असंभव सा ही कहा जा सकता है। इसमें सब कुछ होते हुए भी एक प्रकार का संतोष और विश्रब्धता है जो किसी उपपति के विषय में दुर्लभ है परकीया के लिए भी उसका प्रेमपात्र सर्वस्वरूप है जिसे उसने बहुत कुछ अर्पित कर चुकने पर पाया है। परंतु अपने किये त्याग की एक टीस उसके हृदय के किसी कोने में सर्वदा विद्यमान रहा करती है जो रह-रहकर उभड़ जाती है। इस कारण न तो वह कभी अधिक समय तक शांत रह पाती है और न कभी उसकी संभाव्य संकट जनित आशंका ही पूर्णतः दूर होती है। देव कवि ने उसके प्रेम को इसीलिए कच्चा ही ठहराया है।

देव कवि के अनुसार इन स्वकीया नायिकाओं में से भी मुग्धा वधू का प्रेम सबसे अधिक शुद्ध एवं स्वाभाविक हुआ करता है। उसका अनुराग अपने पति के प्रति सर्वथा नवीन एवं एकनिष्ठ होता है और उसमें तन्मयता की मात्रा बढ़ती रहा करती है। जिस कारण, उसकी ज्योति के सामने हृदय का सारा अंधकार दूर हो जाता है तथा उसमें नवजीवन का संचार हो जाता है। मध्या अथवा प्रौढ़ा नायिका का प्रेम इसके समान गहरा नहीं रह पाता, वह 'सुखसंपत्ति' से बाधित हो जाता है।

प्रथम संग नवनेह पति, मुग्ध वधूनि प्रसिद्ध।
मध्य प्रौढ़ हू प्रेम पति, सुख संपति सों विद्ध ॥ २ ॥

गति अनन्य मुगधानि में, तनमयता नित होति।
अन्धकार जरि जात उर, प्रेमदीप की जोति ॥ ३ ॥[1]

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारणी सभा) पृ० २६।

ऐसी ही मुग्धा की चेष्टाओं का वर्णन करते हुए इस कवि ने एक स्थल पर कहा है—

रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि उचकि-उचकि देव,
जकि-जकि बकि-बकि परत दई-दई॥
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घरन थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई-मई॥१६॥[1]

अर्थात् नायक एवं नायिका एक दूसरे पर मुग्ध होकर भीतर ही भीतर आनंदित हो उठते हैं, हँसने लगते हैं और श्वास प्रश्वास में प्रेमाश्रु भरकर 'दई', 'दई' कहते हैं, कभी-कभी चौंकते और चकित होते हैं कभी उचक-उचककर आश्चर्य प्रदर्शित करते हैं। दोनों ही एक दूसरे के सौंदर्य की प्रशंसा करते फिरते हैं और जान पड़ता है कि उनकी यह नवीन दशा कभी स्थिर होकर जम नहीं पाती। वास्तव में, नायक का मन नायिकामय हो गया है और नायिका उधर नायकमय बन बैठी है।

कवि ने एक ऐसी ही नायिका के द्वारा अपनी दशा का वर्णन किसी सखी के प्रति इस प्रकार भी कराया है—

देव न देखत हौं दुति दूसरी,
देखे हैं जादिन ते ब्रजभूप मैं।
पूरी रही री वही धुनि कानन,
आनन-आनन ओप अनूप मैं॥

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारणी सभा) पृ० ३३।

ए अखियाँ सखियाँ न हमारी,
ए जाय मिली जलबूँद ज्यौं कूप मैं।
कोटि उपाय न पाइए फेरि,
समाय गईं रंग राग के रूप मैं ॥३०॥[1]

अर्थात् हे सखी, जिस दिन मैंने पहलेपहल उन्हें देखा तब से मुझे कोई दूसरा रूप दीख ही नहीं पड़ता। उन्हींके शब्द सदा कानों में गूँजते रहते हैं और उनके अनुपम मुख की छटा के सामने अन्य कुछ भी नहीं दीख पड़ता। ये मेरी दोनों आँखें अब अपनी नहीं रह गई हैं और ये उनके सौंदर्य में इस प्रकार लीन हो गई हैं जैसे जल की बूँद कुएँ में लीन हो जाती है। ये अब उस मनमोहन के रूप में इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि इनका फिर से वापस लाना असंभव हो गया है। देव कवि ने मध्या एवं प्रौढ़ा नायिकाओं के भी प्रेम के अनेक उदाहरण दिये हैं, यद्यपि सर्वत्र विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

४

इस प्रकार प्रेम के स्वरूप, उसके महात्म्य तथा आधार आदि का वर्णन करने के अतिरिक्त ये उसके कुछ भेद भी बतलाते हैं और उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए उनके भिन्न-भिन्न उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। देव कवि के अनुसार,

सानुराग, सौहार्द्र अरु भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पांच विधि कहत अरु, कापण्य वैकल्य ॥१॥
सानुराग सिंगार गति, सुकिया परकीयानि।
प्रीति पात्र, परिजन सुजन, सौहारद पहिचानि ॥२॥

---

१. वही, पृ० १६-२०।

भक्ति भाव भक्तनि विखे, लघुनि प्रति वात्सल्य।
कार्पण्य निज जन कृपण, साति सोक सासल्य ॥३॥[1]

अर्थात् प्रेम पाँच प्रकार का होता है जिसे क्रमशः सानुराग, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य की संज्ञा दी जाती है। इनमें से सानुराग प्रेम शुद्ध शृंगारमय होता है जो स्वकीया एवं परकीयादि में दीख पड़ता है और सौहार्द्र प्रेम का उदाहरण अपने प्रीतिपात्र, परिजन तथा स्वजन संबंधियों में मिला करता है। इसी प्रकार भक्तिमय प्रेम भक्तों में, वात्सल्य प्रेम अपने से छोटों के प्रति तथा कार्पण्य कहलानेवाला प्रेम शोक एवं वेदनायुक्त जनों में पाया जाता है। देव कवि ने इन पाँचों में से सर्वप्रधान सानुराग प्रेम को ही माना है और उसे भी मुग्धाओं के पूर्वानुराग में केंद्रित किया है।

सानुराग प्रेम के लिए इन्होंने कहा है कि वह श्रवण, दर्शन, स्मरण एवं स्पर्श के द्वारा सुखप्रद हुआ करता है। शृंगाररस के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति संयोग और वियोग दोनों में ही हो सकती है और वह गूढ़ एवं अगूढ़ भी कहा गया है। संयोग शृंगार विषयक प्रेम में तो कोई भेद नहीं बतलाये जाते, किंतु वियोग में पूर्वानुराग, सकरुण, मान तथा प्रवास नामक चार प्रकार की स्थितियां गिनाई गई हैं। ये स्वकीया, परकीया एवं वेश्या नाम की तीनों नायिकाओं के संबंध में दर्शायी गई हैं और तीनों के अनुसार क्रमशः पति, उपपति एवं व्यसनी नामक नायकों की भी चर्चा की गई है। इन्होंने यह भी बतलाया है कि स्वकीया को अपने पति के प्रति प्रदर्शित प्रेम ही प्रेम है। परकीया द्वारा उपपति के लिए कष्टों का झेलना प्रेमार्थ नहीं अपितु सुखार्थ हुआ करता है और वेश्या व्यसनी को केवल दुर्व्यसन के लिए चाहती है। इसी प्रकार स्वकीया के इन्होंने मुग्धा, मध्या तथा

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० १३।

प्रौढ़ा नामक तीन भेद बतलाकर परकीया को भी ऊढ़ा और अनूढ़ा में विभाजित किया है, किंतु 'प्रेम हीन त्रिय वेस्या' के विषय में श्रृंगाराभास कहकर ही छोड़ दिया है।[1] कुछ रचनाओं में इन्होंने नायिकाओं के भेद, जाति, व्यवसाय तथा निवासस्थान के अनुसार भी निश्चित किये हैं और अपने देश-भ्रमण संबंधी अनुभवों के आधार पर उनमें से प्रत्येक का उदाहरण दिया है। नायिकाभेद इनका सर्वप्रिय विषय है। ये अपने ग्रंथों के अंतर्गत जहाँ कहीं भी कोई अवसर पाते हैं नायिकाओं के विविध भेदों और दशाओं का वर्णन करने लग जाते हैं।

देव कवि ने पूर्वानुराग एवं गोपियों के सौहार्द्र प्रेम का वर्णन बहुत सुंदर किया है। पूर्वानुराग की परिभाषा देते हुए ये कहीं भी नहीं जान पड़ते, किंतु इनके दिये अनेक उदाहरणों से उसका अच्छा परिचय मिल जाता है। इस दशा में पड़ी हुई नायिका का प्रेम ही, यथार्थ में, सानुराग अर्थात् श्रृंगारिक प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप माना जाता है। यह वह दशा है जिसमें प्रेमभाव का उदय और प्रसार, सर्वप्रथम, हुआ करता है और जब वह पूर्वानुभूत न होने के कारण, अकस्मात् प्रभावित करता है। रतिभाव के अचानक अंकुरित होते ही नायिका वा नायक एक दूसरे के प्रति सहसा खिंच से जाते हैं और उनके भीतर एक सुखद किंतु उद्वेगजनक विस्मय का संचार हो जाता है जो उत्सुकता के रूप उन्हें प्रत्येक क्षण किसी भावी आनंद की ओर उन्मुख करता रहता है और वे नयी-नयी अभिलाषाओं के बहकाव में पड़कर बेचैन से हो उठते हैं। उनकी ऐसी व्याकुलता उस समय और भी बढ़ जाती है, जब उन्हें किसी परतंत्रता वा इस प्रकार की अन्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है। संघर्षों के कारण उनकी चाह तीव्र से तीव्रतर बनती जाती है और गहरे भावों का सम्मिलित प्रवाह अधिकाधिक वेगवान् होता जाता है, यहाँ तक कि इस विकट

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृ० १४।

स्थिति को पूर्णतः सँभालने के प्रयत्न में वे मरण तक के लिए तुल जाते हैं। वे अपने कार्य की सिद्धि में किसी प्रकार की असफलता का आने देना किसी दशा में भी सहन नहीं करते। सूफ़ियों, कतिपय संतों तथा कई श्रृंगारी कवियों द्वारा लिखी गई प्रेमगाथाओं तथा प्रचलित प्रेमाख्यानों में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

परंतु देव कवि का साधन सीमित है और इन्होंने उपर्युक्त विषय का विवेचन प्रबंधकाव्य द्वारा न करके फुटकल कवित्तों और सवैयों के सहारे किया है और इसके लिए कभी-कभी प्रेमालाप आत्मनिवेदन तथा सखी बचनों का भी उपयोग किया है। जैसे,

देखे अनदेखे दुखदानि भए सुखदानि,
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो।
पानी पान भोजन सुजन गुरजन भूले,
देव दुरजन लोग लरत खरे परो॥
लागो कौन पाप पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह नयो नेह नियरे परो।
होतो जो अजान तौ न जानतो इतीकु बिधा,
मेरे जिय जान तेरो जानिबो गरे परो॥१४॥[1]

अर्थात् प्रेमारंभ के दिन से सारी देखी-सुनी बातें अनदेखी सी जान पड़ने लगीं; सुखदायक वस्तुएं दुखदायक हो गईं, भोजनपान, स्वजन-गुरुजन सभी भूल गए, घर दूर जान पड़ने लगा और प्रेम ही निकट आ गया आदि। तथा,

जागत-जागत खीन भई अब, लागत संग सखीन को भारो।
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख, सों बसिबो बिसे बीस बिसारो॥

---

१. सुजान विनोद (काशी नागरी प्रचारणी सभा) पृ० २२-३।

प्यौ सुधि ग्रौस गँवावति देवजू, जामिनि जाम मनो जुग चारो।
नीरज नैनी निहारिए नैनन, धीरज राखत ध्यान तिहारो ॥३७॥[1]

अर्थात् अनवरत जागरण के कारण नायिका क्षीण हो गई है, सखियों का साथ उसे अब नहीं सुहा रहा है, खेलने-हँसने तक का सुख अब जाता रहा प्रियतम का स्मरणकर दिन गँवाया करती है रात के चारों पहर उसे चार युग से जान पड़ते हैं, इत्यादि।

इसी प्रकार देव कवि ने गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रदर्शित सौहार्द्र प्रेम का भी वर्णन बड़े सुंदर शब्दों में किया है। इन्होंने भी उसे व्यक्त करते समय उसी परंपरागत गोपी-उद्धव-संवाद का सहारा लिया है जिसे सूरदास, नंददास आदि ने इनके पहले से अपनाया था। इनकी एक गोपी कृष्ण के लिए उद्धव द्वारा संदेश भेजती हुई कहती है—

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रससों श्रुति सानो।
गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारि ये बात बखानो॥
ऊधो हहा हरिसों कहियो, तुम हौन इहाँ यह हौं नहिं मानो।
या तनते बिछुरे तो कहा, मनते अनते जु बसौ तब जानौ ॥२॥[2]

अर्थात् हे उद्धव, कृष्ण के प्रति मेरी ओर से कृपापूर्वक यह कह देना कि मेरे नेत्रों में आपका रूप सदा भरा रहता है, कानों में आपकी ही वाणी गूँजती रहती है, शरीर में आपका शरीर प्रतिबिंबित होता है और बात-बात में आपकी ही बात निकला करती है। यह मैं कभी नहीं मान सकती कि आप यहाँ पर विद्यमान नहीं हैं। इस शरीर से विलग हो जाने से ही क्या? मैं तो आपका वियोग तब मानूँ जब आप मेरे मन से भी कहीं अन्यत्र चले जाँय। देव कवि का यह

---

१. प्रेमचन्द्रिका (काशी नागरी प्रचारणी सभा) पृ० २२।
२. वही, पृ० ४५।

पद्य उस दोहे का स्मरण दिलाता है जो अंधे कवि सूरदास से किसी समय हाथ छुड़ाकर भागते हुए, बालकृष्ण के प्रति कहलाया गया है, जैसे—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि के मोहि ।
हिरदै से जो जाहुगे, मरद बखानौं तोहि ॥

देव कवि ने परकीया के प्रेम की दृढ़ता पर भी अच्छी पंक्तियां लिखी हैं।

४

प्रेम का विषय अत्यंत गहन है और उसका सांगोपांग विवेचन करने की चेष्टा बहुत कम ग्रंथ रचयिताओं ने की है। नारद जैसे आचार्यों ने भक्ति को ही 'परम प्रेम रूपा' बतलाकर इसका परिचय दिया है। इस कारण, उनके भक्तिसूत्रों में इसका स्वरूप बहुत कुछ आध्यात्मिक साधना के अनुकूल दिखलाई पड़ता है और उसके साथ ठेठ शृंगारिक प्रेम का वैसा मेल नहीं खाता। इधर साहित्य के आचार्यों ने जिस प्रेम का परिचय अपने रस संबंधी ग्रंथों में प्रसंगवश दिया है वह शुद्ध सामाजिक जान पड़ता है। कृष्ण एवं राधादि गोपियों के पारस्परिक स्नेह-संबंध के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात दोनों में एक समान नहीं बतलायी जाती। देव कवि के पहले भक्त रसखान ने प्रेम का वर्णन अपनी एक छोटी सी रचना में किया है। किंतु उसमें अधिकतर प्रेम के माहात्म्य तथा लक्षणादि का ही परिचय पाया जाता है जिससे इसके महत्त्व के सिवाय और कुछ पता नहीं चलता। इसका भेद निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि यह शुद्ध अर्थात् निःस्वार्थ और अशुद्ध अर्थात् स्वार्थपरक हुआ करता है। देव कवि ने इसे पांच अंगों में विभाजित किया है और उनके सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य एवं कार्पण्य नाम दिये हैं। परंतु इनके इस विभाजन का आधार स्पष्ट और युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। बड़े के प्रति प्रेम को भक्ति, छोटे के प्रति वात्सल्य तथा सुहृदों और समवयस्कों

के लिए सौहार्द्र जहां बतलाया है, वहां सानुराग का आधार श्रृंगार तथा कार्पण्य का शोक कहा है और इस प्रकार जहां एक ओर अवस्थाभेद का प्राधान्य दीख पड़ता है वहां दूसरी ओर क्रमशः यौन संबंध और विकलता की दशा प्रमुख हैं। कवि ने इन अंतिम प्रेम दशाओं के जो उदाहरण दिये हैं उनके अनुसार सानुराग का समावेश सौहार्द्र में तथा कार्पण्य का भक्ति में सरलतापूर्वक किया जा सकता था और इस प्रकार उक्त विभाजन Cross division (सदोष विभेदीकरण) से बच सकता था।

देव कवि की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत ऐसी पंक्तियों का प्रायः अभाव सा दीखता है जिनके आधार पर इन्हें 'प्रेम की पीर' का कभी स्वयं भी अनुभव कर चुकने वाला कहा जा सके। यह बात इनके जीवन वृत्त से भी सिद्ध नहीं होती। ये उस वर्ग के ही एक निपुण कवि जान पड़ते हैं जो किसी ऐश्वर्यशाली व्यक्ति के मनोरंजनार्थ काव्यरचना कर उसके उपलक्ष में धन एवं मान कमाने का इच्छुक रहा करता है और जो इस कला को एक प्रकार का व्यवसाय बना लेता है। ऐसे कवि की मनोवृत्ति का लगाव जितना अपने आश्रयदाता की 'मौज' के साथ रहता है उतना वर्ण्य विषय से नहीं होता। वे 'क्या कहा जाय' से कहीं अधिक 'कैसे कहा जाय' पर ध्यान देने लग जाते हैं, जिस कारण, अपनी प्रतिपाद्य वस्तु के भीतर प्रवेशकर उसे भलीभांति समझ लेने अथवा अपनाने का उन्हें कोई अवसर ही नहीं मिल पाता। ऐसी दशा में अपनी कोई स्थायी देन प्रस्तुत करने के अभिलाषी होने पर भी वे उसका उतना ही अंश दे पाते हैं जो उनमें चिरसंचित रहा करता है। उसे वे इसी कारण, बिना किसी प्रयास के भी व्यक्त कर देते हैं जो 'उनके द्वारा' आपसे आप प्रकट हो जाता है। अन्यथा उनका सारा परिश्रम यातो वर्ण्य विषय के अनावश्यक विश्लेषण में लग जाता है अथवा उसके किसी एक ही अंश को बार-बार एवं भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करने में व्यय होता है। कवि का

12547८

मस्तिष्क यहाँ पर उसके हृदय से अधिक व्यस्त रहा करता है, जिसकारण, उसकी पंक्तियों में सजीवता और स्वाभाविकता की कमी आ जाती है।

प्रेम का विषय देव कवि के लिये निजी अनुभव की 'चीज़' न होकर कदाचित् केवल शास्त्रीय अध्ययन की ही वस्तु बना रहा। इनके लिए वह संभवतः उसी कोटि में आता था जिसमें उनकी रचना 'रागरत्नाकर' का विषय संगीत आ सकता था। दोनों में अंतर केवल इतना ही था कि प्रथम के संबंध में जहाँ ये अपने प्रिय विषय नायिकाभेद के विविध उदाहरण अपने अध्ययन तथा अनुभव के आधार पर दे सकते थे, वहाँ दूसरे का क्षेत्र सीमित था। इसके सिवाय राधा एवं कृष्ण के पारस्परिक संबंध तथा गोपी एवं उद्धव के वार्त्तालाप के आधार लेकर पहले का वर्णन करते समय इन्हें अनेक काल्पनिक उद्‌गारों के प्रकट करने का पूरा अवसर मिल सकता था जिसमें पूर्वागत परंपरा का भी सहयोग था। देव कवि ने इसके लिए कतिपय नवीन उक्तियों की योजना की, कुछ पुरानी सूझों को नये ढंग से व्यक्त किया और इन सारी बातों को पद्यबद्ध करते समय एक ऐसी कथनप्रणाली स्वीकार की, जिसकारण इनकी पंक्तियाँ चमत्कारपूर्ण बन गईं। रीतिकाल के नाम की सार्थकता उसके कवियों की प्रमुख वर्णनशैली में ही देखी जाती है। उनको रचनाओं में पाये जाने वाले रस एवं अलंकारों के प्रयोगों में जितनी सफलता लक्षित होती है उसके अनुसार ही उनका मूल्यांकन किया जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी कतिपय आलोचक उस काव्य-कौशल से प्रभावित होकर सच्चा आदर्श भी भूल जाते हैं। देव कवि की वर्णन-शैली और विशेषकर इनके यमक, अनुप्रास एवं श्लेषादि के प्रयोगों ने इन्हें भी अपने उपयुक्त स्थान पर ठहरने नहीं दिया है और ये सदा कभी ऊपर और कभी नीचे की ओर लाये जाते रहे हैं। प्रेम का निरूपण कर इन्होंने कोई मौलिकता नहीं दिखलाई है और न इस कार्य को हम इनकी कोई विशेष देन ही मान सकते हैं।

घन आनंद कवि का विरहवर्णन

१

कविवर घन आनंद वा घनानंद की गणना ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इनकी कविता की प्रशंसा हिंदी साहित्य के प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध मर्मज्ञ ने भाव तथा भाषा इन दोनों के ही विचारों से एक समान की है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र घनानंद की कविता पर बहुत मुग्ध रहा करते थे। इनके उत्तम-उत्तम पद्यों को उन्होंने दो-एक संग्रहों में भी प्रकाशित किया था। घनानंद की कविता, अपने मित्रों के सामने पढ़कर सुनाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। कई बार तो उन्होंने घनानंद के ढंग की कविता करने का भी प्रयास किया। प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-रसिक स्वर्गीय बाबू अमीरसिंह ने 'साभिमान' कहा है कि घनानंद की केवल ४-५ कविताएँ पढ़ लेने वाले के लिए भी "यह तो संभव ही नहीं कि वह गद्गद न हो।"[१] स्वर्गीय पंडित रामचंद्र शुक्र के शब्दों में "प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा ज़बाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ" और न "इनकी सी विशुद्ध और सरस ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ हुआ।"[२] घनानंद की भाषा पर विचार करते हुए स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी कहा है "विहारी के पश्चात् आनंदघन जी ने अपनीकविता में शुद्ध तथा साम्य संपन्न भाषा के प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया" और, "हमारी समझ में विहारी तथा आनंदघन जी की कविताओं में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का एक सुंदर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त

---

१ 'रसखान और घनानंद', पृ० ५१।

२ 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० ३८३।

सामग्री विद्यमान है।"[1] अपनी काव्य-कुशलता की प्रशंसा में संभवतः घनानंद ने स्वयं भी लिखा है। जैसे,

तेही महा ब्रजभाषा प्रबीन
औ सुंदरतानि के भेद कों जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद
भावना भेद स्वरूप कौं ठानै॥
चाह के रंग में भींज्यो हियो
बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रबीन सुछंद सदा रहै
सो घन जी के कबित्त बखानै॥१॥

तथा,

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै
सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कैं सब के मन लालच दौरैं
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कबिताई के धोखे रहैं
ह्याँ प्रबीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनंद की
हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥२।[2]

अर्थात् घनानंद की कविता वही पढ़ और समझ सकता है जो एक बड़ा भारी प्रेमी होने के साथ ही ब्रजभाषा की योग्यता रखने वाला तथा सौंदर्य की विविध भावनाओं का साक्षात् अनुभव करने वाला हो।

---

१ 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १०, पृ० ३६६।
२ घन आनंद और आनंदघन (प्रसाद परिषद् काशी), पृ० १।

इनकी कविता में प्रेम का रहस्य अंतर्हित है जिसे भलीभाँति देख पाने के लिए पहले अपने हृदय-नेत्र में प्रेम की कसक अथवा विरहरूपी आँजन लगा लेने की आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु आजतक न तो इस कवि की जीवन-घटनाओं का ही पूरा पता लग पाया है और न इसकी सारी रचनाएँ ही प्रकाशित हो पाई हैं। डाक्टर ग्रियर्सन ने किसी महादेव प्रसाद रचित 'साहित्यभूषण' के आधार पर केवल इतना लिखा है कि घनानंद जाति के कायस्थ थे और दिल्ली के प्रसिद्ध रँगीले बादशाह मुहम्मदशाह के यहाँ मुंशी के पद पर नौकरी करते थे और वहाँ से हटने के अनंतर नादिरशाह की मथुरावाली चढ़ाई के समय वृंदावन में मार डाले गए।[1] इसके अनुसार घनानंद का संवत् १७९६ (सन् १७३९ ई०) तक जीवित रहना कहा जा सकता है। परंतु इस बात को निश्चित मान लेने में कुछ लोगों ने आपत्ति की है। इनके जन्म-समय के विषय में भी थोड़ा सा मतभेद है। ठाकुर शिवसिंह के 'सरोज' के अनुसार घनानंद संवत् १७१५ (जो असावधानी के कारण, नवलकिशोर प्रेस वाले सन् १९२६ ई० के 'संशोधित' संस्करण में, सं० १६१५ छप गया है) में उपस्थित थे[2] और यही काल 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण'[3] तथा 'मनोरंजन-पुस्तक-माला' की ५१वीं संख्या 'रसखान और घनानंद'[4] में ठीक मान लिया गया जान पड़ता है। इसके विपरीत श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रज-माधुरीसार' में घनानंद का जन्मकाल सं० १७४६ (सन् १६८६ ई०)

---

१. ग्रियर्सन, 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रचर अव् हिंदुस्तान।'
२. 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४११।
३. 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० १२।
४. 'रसखान और घनानंद', पृ० ४६।

के लगभग ठहराया है[1] और स्व० पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इसी समय को स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार पहले मत के अनुसार घनानंद अपने मृत्यु-समय तक ८१ वर्ष के तथा दूसरे के अनुसार लगभग ४० वर्ष के हो चुके थे। श्री वियोगी हरि ने अपने १७४६ संवत् वाले मत का का कोई दृढ़ आधार नहीं बतलाया है जैसा उन्हें एक पुराने मत को भ्रमात्मक मानकर अपना नवीन मत स्थापित करते समय, अवश्य करना चाहिए था और न शुक्ल जी ने ही इस विषय पर कोई नया प्रकाश डाला है। कुछ दिनों की जाँच पड़ताल के अनंतर स्व० जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' को पता चला था कि घनानंद, वास्तव में, बुलंदशहर के निकट रहने वाले कायस्थ थे और उनके वंशज अभी बुलंदशहर में अथवा उसके आसपास वर्तमान हैं। ये फ़ारसी के अच्छे पंडित भी थे और अपनी योग्यता के बल से क्रमशः बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी हो गए थे। सुजान नाम की किसी वेश्या पर आसक्त हो जाने के कारण उसी के प्रेम में मतवाला होकर इन्होंने नौकरी तथा घर-बार तक सब छोड़ दिया और ब्रज में जाकर पागलों का जीवन व्यतीत करने लगे और अंत में मथुरा के नादिरशाही क़त्ल-आम में मार दिये गए।[3] ऐसी दशा में बुलंदशहर के निकट से दिल्ली शहर तक पहुँचकर वहाँ के शाहंशाह के दर्बार में मीर मुंशी के ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होने तथा वहाँ से विरक्त होकर ब्रज में जीवन व्यतीत करने तक, संभव है, घनानंद को पूरा समय लगा होगा। मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में घनानंद के संवत् १८८२ में लिखे हुए ५४२ पृष्ठों

---

१. 'ब्रजमाधुरी सार', पृ० ३०३।

२. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० ३८०।

३. 'रत्नाकर' जी का ३० वीं जनवरी सन् १६३१ का पत्र, जिसे लेखक के एक पत्र के उत्तर में उन्होंने भेजने की कृपा की थी।

के एक भारी ग्रंथ को दर्बार छतरपूर के पुस्तकालय में स्वयं देखकर लिखा है—"जान पड़ता है कि उमर ढलने पर इनके चित्त में ग्लानि होकर निर्वेद उत्पन्न हुआ, जिससे यह श्री वृंदावनधाम जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर ब्रजवास करने लगे। यह भाव इनकी इस रचना से दृढ़ होता है।" इस विचार से भी घनानंद का ८०-८१ वर्षों तक जीवित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

उपर्युक्त बातों के सिवाय घनानंद के विषय में अभीतक जो कुछ और पता चला था उसके अनुसार घनानंद भटनागर कायस्थ थे और इनके पूर्वजों की पुस्तैनी जीविका नौकरी चली आती थी, इस कारण, समयानुसार पहलेपहल इन्हें फ़ारसी की शिक्षा दी गई। फ़ारसी में इनकी योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी और कहते हैं कि उन्होंने उस भाषा में कुछ कविता भी की थी। बादशाह के दफ्तर में ये पहलेपहल किसी छोटे पद पर नौकर हुए, किंतु अपने परिश्रम तथा योग्यता के फलस्वरूप इन्हें अंत में बादशाह मुहम्मद के 'ख़ासक़लम' का पद प्राप्त हो गया। घनानंद को अपनी बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण की रासलीला देखने का चस्का था। बहुधा वे इसी धुन में दिल्ली शहर में आने वाली रासमंडलियों के व्यय का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें महीनों सँभालते, उनसे रास कराते तथा कभी-कभी स्वयं भी उनकी विविध लीलाओं में भाग लेने का प्रयत्न करते। यही कारण था कि घनानंद को कुछ दिनों में हिंदी भाषा के पद गाने तथा उनकी रचना करने का अभ्यास हो गया। कहते हैं कि घनानंद के बनाये बहुत से पद्य रासधारियों में आज भी गाये जाते हैं। रासलीला के ही कारण घनानंद धीरे-धीरे श्रीकृष्ण के परम भक्त हो गए और अंत में नौकरी छोड़कर ब्रज में निवास करने लगे।[1]

१ 'रसखान और घनानंद', पृ० ४९-५०।

इनकी नौकरी छूटने का निम्नलिखित कारण बतलाया जाता है—"कहते हैं कि एक दिन दर्बार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टाल-मटोल की इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। उन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ कर ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर जितना खुश हुआ उतना ही बेअदबी पर नाराज़। उसने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृन्दावन जाकर निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव हो गए और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे।"[1] इसी प्रकार घनानंद की मृत्यु के अवसर की भी एक कथा प्रचलित है—"संवत् १७९६ में जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है। उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने उन्हें आ घेरा और 'ज़र-ज़र-ज़र' (अर्थात् धन, धन, धन लाओ) चिल्लाने लगे। घन-आनंद जी ने शब्द को उलट 'रज'-'रज'-'रज' कह कर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। कहते हैं कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि-कहि आवत छबीले मन-भावन को,
गहि-गहि राखत ही दै-दै सनमान को॥

---

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० ३८०-८२।

झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वैकें,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेशो लै सुजान को॥"[1]

रीवां-नरेश महाराज रघुराज सिंह (सन् १८२३-७९ ई०) ने उपर्युक्त घटना का वर्णन अपनी 'रामरसिकावली' नामक भक्तमाल में बड़े विशद रूप से किया है और घनानंद की गणना उन्होंने प्रसिद्ध भगवद्भक्तों में की है। परंतु महाराज रघुराज सिंह ने नादिरशाह के आक्रमण की चर्चा नहीं की है। दिल्ली के किसी 'शहज़ादा' के रुष्ट हो जाने पर ऐसी घटनाओं के होने का उन्होंने विवरण दिया है जिसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि वह समय। अहमदशाह अब्दाली के मथुरा और वृंदावन वाले 'क़त्लेआम' का था। इतिहास से नादिरशाह द्वारा मथुरा वा वृंदावन में कराये गए किसी 'क़त्लेआम' का पता नहीं चलता। 'अहमदशाह का 'क़त्लेआम' सन् १७५७ में पहली मार्च से लगभग छः मार्च तक रहा था—तदनुसार माघ शुक्ल दशमी से फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदा तक सं० १८१४ में हुआ था।' इससे पहले चैत्रकृष्ण द्वादशी सं० १८१३ को घनानंद ब्रज से यात्रा करके जयपुर गये थे जहाँ से फिर वापस आने की तिथि विदित नहीं।[2]

घनानंद द्वारा रचित अनेक ग्रंथ सुनने में आते हैं। परंतु इनमें से केवल तीन-चार को छोड़ अभी तक सभी अप्रकाशित रूप में हैं। घनानंद की कुछ कविताओं को सब से पहले भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने संग्रह के रूप में प्रकाशित किया था। 'सुंदरी तिलक' नामक संग्रह-

---

१. वही।

२. श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी : 'घनआनन्द' (भारतवासी प्रेस) पृ० ५८-६४।

ग्रंथ में इनके बहुत से सवैये संगृहीत हुए । सन् १८७० ई० में उक्त बाबू साहब ने घनानंद के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुजानसागर' वा 'सुजानहित' से लेकर ११८ कवित्त और दोहों को 'सुजान शतक' नाम देकर प्रकाशित किया । पूरा 'सुजानसागर' उसके २७ वर्ष के अनंतर, अर्थात् सन् १८९७ ई० में, पहलेपहल स्व० बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित होकर काशी के हरिप्रकाश यंत्रालय से निकला था । अब उसका एक दूसरा संस्करण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'मनोरंजन-पुस्तक-माला' की २१ वीं संख्या सन् (१९२१ ई०) में इंडियन प्रेस, प्रयाग से निकला है । इस ग्रंथ में कुल मिलाकर ४८३ कविताएँ हैं जिन में से सवैये, दंडक, दोहे और सोरठों के सिवाय दो छप्पय तथा एक अनंगशेखर नामक छंद भी सम्मिलित हैं । इस दूसरे संस्करण में भी प्रथम संस्करण की कुल अशुद्धियाँ दूर नहीं हो पाई हैं और एक कवित्त (अर्थात् २२ वें को ११६ वाँ कर) पुनर्वार छाप दिया गया है । ऐसी दशा में, वस्तुतः केवल ४८२ ही पद्य रह जाते हैं । 'सुजान-सागर' के अनन्तर जो दूसरा ग्रंथ प्रकाशित हुआ वह 'विरहलीला' है । 'विरहलीला' की एक प्रति पहलेपहल प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्व० श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल को ब्रिटिश म्यूज़ियम में मिली थी । यह प्रति अठारहवीं शताब्दी के किसी लेखोपजीवी द्वारा लिखी हुई है और एक गुटके में बँधी है जिस में अन्य कवियों के भी कई प्रसिद्ध ग्रंथ बँधे हुए हैं । प्रकाशित 'विरहलीला' 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथ-माला' सीरीज़ का १२ वाँ ग्रंथ है जो पहलेपहल सभा द्वारा सन् १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ था । इसमें कुल मिलाकर केवल ७९ कविताएं हैं जो फ़ारसी के किसी द्विपद छंद में लिखी गई हैं ।[1] इन उपर्युक्त

१. इसी 'विहरलीला' को ही 'वियोगवेलि' भी कहते हैं जिसे श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संपादित कर अपने संग्रह ग्रंथ 'घन आनन्द और आनंदघन' (पृ० १४६-४९) में प्रकाशित किया है । लेखक ।

दोनों प्रकाशित ग्रंथों में से 'सुजानसागर' का मुख्य विषय विरह-निवेदन है। किंतु इसके साथ ही सौंदर्य तथा ईश्वर-विनय आदि कतिपय विषयों पर भी इसमें बड़े सुंदर-सुंदर पद्य संगृहीत हैं। 'विरहलीला' का विषय गोपियों का विलाप है जिसे कवि ने बड़ी सरस पंक्तियों में प्रकट किया है। इस 'विरहलीला' को ही देखकर कदाचित् बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी 'दशरथ-विलाप' नामक कविता लिखी थी। अनुकरण स्पष्ट लक्षित हो जाता है। अन्य ग्रंथों में से एक ग्रंथ 'कृपा कंद निबंध' है जिसमें ४४८ पद हैं और जो महाराज बनारस के यहाँ सुरक्षित है।[1] इस पुस्तक का नाम भ्रमवश वियोगी हरि ने 'कृपा कांड निबंध' तथा पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'कृपाकांड' मात्र लिख दिया है। 'कृपा कंद निबंध' का मुख्य विषय शृंगार रस की कविता है। दूसरे ग्रंथ का नाम 'घनानंद कवित्त' है जो मथुरा में किसी के यहाँ रक्खा हुआ है और जिसमें कुल मिला कर ४१६ पद्य बतलाये जाते हैं। इन कवित्तों के मुख्य विषय राधाकृष्ण की लीला तथा शृंगार रस संबंधी बातें हैं। घनानंद का तीसरा अप्रकाशित ग्रंथ 'रसकेलि-वल्ली' है जो 'आनंद घन के कवित्त' के नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय ईश्वरीय प्रेम है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि घनानंद के प्रायः सभी ग्रंथ संग्रहों के ही रूप में मिलते हैं। जान पड़ता है कि कवि ने किसी प्रबंध-काव्य के लिखने का कभी प्रयत्न नहीं किया। घनानंद के अन्य फुटकल संग्रहों में से कई एक डेढ़ सौ से सवा चार सौ तक के कवित्त वाले पाये गए हैं। छतरपूर के पुस्तकालय में रक्खा हुआ बड़ा संग्रह, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक है, एक बृहद् ग्रंथ जान

---

१. इस ग्रंथ को भी श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने 'घनआनंद और आनंदघन' (पृ० १२८-४५) में अब प्रकाशित कर दिया है और उसमें कवित्त, सवैये, पद एवं दोहे कुल केवल ८६ की संख्या में हैं। लेखक।

पड़ता है क्योंकि मिश्रबंधुओं के अनुसार इसमें १८११ विविध छंदों तथा १०४४ पदों द्वारा अनेक भिन्न-भिन्न विषय वर्णित हैं। पदों में भक्ति तथा ब्रजलीलाओं का वर्णन है। दूसरे विविधि छंदों का विषय 'ब्रजव्योहार', 'वियोगवेली', 'भावनाप्रकाश', 'धामचमत्कार', 'कृष्ण-कौमुदी', 'वृंदावनमुद्रा', 'मुरलिकामोद', 'प्रेमपत्रिका' आदि शीर्षकों से जाना जा सकता है। इस बड़े संग्रह के सिवाय श्री वियोगी हरि ने किसी 'बानी' नामक संग्रह का भी उल्लेख किया है जिसमें कृष्ण के विहार और अष्टयाम संबंधी पदों का संगृहीत होना बतलाया जाता है। इसी प्रकार किसी-किसी के अनुसार घनानंद के कुछ संगीत-काव्य का भी पता चलता है। किंतु इस विषय का कोई ग्रंथ अभीतक देखने को नहीं मिला। तृतीय त्रैवार्षिक खोज के फलस्वरूप घनानंद के बनाये 'सुजानहित' तथा 'इश्कलता' नामक दो और ग्रंथों का पता चलता है और चतुर्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इनका 'प्रीतपावस' नामक ग्रंथ भी मिला है किंतु परीक्षा करने पर ये रचनाएँ दूसरे कवि की ठहरती हैं। बहुत से लोगों ने भ्रमवश 'कोकसार' नामक ग्रंथ को भी घनानंद-कृत माना है, परंतु ऐसा करना ठीक नहीं। 'कोकसार' किसी आनंद नामक कवि की रचना है जिसका समय घनानंद से पहले का समझा जाता है।[1]

२

उपर्युक्त पुस्तकों के देखने एवं उन पर विचार करने से घनानंद का परिचय हमें एक सच्चे प्रेमी तथा भक्तकवि के रूप में मिलता है। इनके प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है। अपनी विविध रचनाओं द्वारा इसके गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन करने की इन्होंने सफल चेष्टा की है। प्रेम की महत्ता एवं इसकी अपरिमेयता दिखलाते हुए घनानंद ने प्रेम की तुलना

---

१. देखिए 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० ३० तथा 'मिश्रबंधु विनोद' (सं० १९८४), पृ० ४५६।

किसी अलौकिक महासागर से की है जिसमें स्वयं राधा और कृष्ण एक रस होकर सदा निमग्न रहा करते हैं और जिसकी तरल तरंगों की एक छोटी सी ही बूंद ने किसी प्रकार मानव लोक तक पहुँचकर इसे आप्लावित सा कर दिया है। घनानंद के ही शब्दों में—

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै विचार,
बापुरो हहरि वार ही तैं फिरि आयो है।
ताही एक रस ह्वै विवस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि राधा जिन्हें देखे सरसायो है॥
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
पूरि लोक लोकनि उमँगि उफनायो है।
सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायो है॥[1]

इस प्रकार अपने उद्भव स्थान के वस्तुतः ईश्वरीय होने के कारण प्रेम एक नैसर्गिक भाव है जिसके प्रकट होने के लिये किसी कृत्रिम साधन की आवश्यकता नहीं। प्रेमी का मार्ग भी इसीलिए नितांत सीधा और सच्चा होता है और उसपर चलने में वही सफल हो सकता है जो अपनेपन तक का त्याग कर एकदम निःशंक हो जाय। कपटी तथा लोक-चतुर के लिये यह मार्ग कठिन है क्योंकि ये लोग सांसारिक व्यवहार में सदा अपनी सफलता के चाहने वाले होते हैं। किंतु प्रेम-मार्ग पथिक अपने को भूलकर ही चला करता है और सुधि आते ही थक सा जाता है। प्रेम का तो नियम ही है कि प्रेमी हँसता हुआ अपने को हरा दे और इसी बात को अपनी विजय समझे। प्रेमी का आत्म-त्याग दर्शाने के लिये घनानंद ने उसकी तुलना मेंहदी से की है और कहा है—

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)

साखा कुल टूटै है रँगीली अभिलाषा भरी,
परि द्वै पखान बीच घसनि घनी सहै।
सोव सूखी इतेमान आनि कैं सलिल बूड़ै,
घुरि जाय चाहनिहि हाय गनि को कहै॥
तऊ दुखदाई देखौ छिदनि सलाकनि सों,
प्रेम की परख दैया कठिन महा अहै।
पिय मनसा लौं वारी मिंहदी अनंद घन,
एरी जान प्यारी नेक पाइन लग्यो चहै॥[1]

अर्थात् प्रेम की परीक्षा इतनी कठिन है कि प्रियतम के केवल चरणमात्र में लगने के लिये भी मेंहदी को अपनी शाखा (अर्थात् एक ऊँचे कुल) से पृथक् होना पड़ता है। दो पत्थरों के बीच पड़कर घिसना पड़ता है, जल में घुलना पड़ता है तथा विविधि सलाइयों द्वारा छिद्-छिद्कर भी आत्मसमर्पण करना पड़ता है। अभीष्ट केवल इतना हो कि वह किसी प्रकार चरणों में लिपट जाय।

परंतु जिस प्रेमरूपी अमूल्य वस्तु के लिये इतने उत्सर्ग की आवश्यकता पड़ती है वह वास्तव में 'अमिश्रित आनंद' भी नहीं। प्रेम का वास्तविक गौरव विरह में है क्योंकि विरह के बिना प्रेम का अस्तित्व ही निमूंल है। प्रसिद्ध संत दादूदयाल ने इसीलिए कहा है—

पहिला आगम बिरह का, पीछइ प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लवलीन मन, तहाँ मिलन की आस॥

तथा,

प्रीति न उपजइ बिरह बिन, प्रेम भक्ति क्यों होय।
झूठे दादू भाव बिन, कोटि करइ जो कोय॥

---

१. वही।

क्योंकि,

बिरह जगावइ दरद को, दरद जागावइ जीव ।
जीव जगावइ सुरति को, यंत्र पुकारइ पीव ॥

इसीलिए प्रेमी दादू ने यहाँ तक कह दिया है—

बिरहा मेरा मीत है, बिरहा बैरी नाहिं ।
बिरहा को बैरी कहइ, सो दादू किस माँहि ॥[1]

अर्थात् विरह के महत्त्व को न समझते हुए उसे हानिकारक समझना नासमझी है। घनानंद ने विरह के महत्त्व को भलीभाँति समझा था। इसलिए प्रेमी के विरह-दग्ध हृदय तथा उसके सूक्ष्मादि-सूक्ष्म एवं अनिर्वचनीय मानसिक व्यापारों का जैसा सुंदर वर्णन अपनी कविता द्वारा उन्होंने किया है वैसा बहुत कम कवि कर पाए हैं। घनानंद की यह विशेषता है कि प्रेमी की दशा अथवा उसकी परिस्थिति का दिग्दर्शन कराते समय वे बहुत से अन्य कवियों की भाँति केवल शब्दाडंबर का आश्रय नहीं लेते और न अत्युक्तियों का गाढ़ा रंग चढ़ाकर किसी कोमल भाव को भद्दा बना देते हैं। वे जिस प्रकार हमारी आंतरिक वेदना के सच्चे स्वरूप को पहचान सकने में निपुण हैं उसी भाँति उसे उपयुक्त शब्दों द्वारा स्वाभाविक ढंग से व्यक्त कर देने में भी कुशल हैं। घनानंद में प्रेम की पीर का गहरा अनुभव है किंतु उसे प्रकट करते समय वे आवेश नहीं दिखलाते और न उस की तीव्रता के कारण घबड़ाकर नियमोल्लंघन कर जाते हैं। उनके विरह-वर्णन में एक आश्रित का अनुरोध एवं मर्यादित आत्मनिवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के ही कारण सुनने वाले का हृदय बरबस खींच लेता है। घनानंद के 'सुजानसागर' में विरह का रूप उसका उद्भव, प्रभाव एवं प्रदर्शन, इन

१. 'श्री दादूदयाल की बानी,' (नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला सीरीज़ नं० ११), १९०६ ई०।

सभी के वर्णन अथवा स्पष्टीकरण अनेक स्थलों पर मिलेंगे और 'विरह लीला' में तो विरह निवेदन मुख्य विषय बनकर ही आया है। इन्हीं दोनों प्रकाशित ग्रंथों के कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

चाह की 'अनोखी आगि' की विचित्रता दिखलाते हुए घनानंद एक स्थान पर कहते हैं—

केतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहा आहि सोधौं,
कोधौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कों न धरै गात सीरो परै ज्यों-ज्यों जरै,
ढरै नैन नीर बीर हरै मति आह की॥
जतन बुझैहै सब जाकी झर आगे सब,
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।
जबते निहारे घन आनंद सुजान प्यारे,
तब तें अनोखी आगि लागि रही चाह की॥[1]

अर्थात् इस अनोखी आग की गति ऐसी विचित्र है कि न तो इसके धूम ही का पता चलता है और न शरीर पर इसकी ज्वाला का कोई प्रकट प्रभाव ही दीख पड़ता है। यहाँ तो ऐसी दशा है कि ज्यों-ज्यों आग की लपटें जलाती जाती हैं त्यों-त्यों शरीर ठंडा पड़ता जाता है।

दुख तो इस बात का है कि विरह की आग एकबार लग चुकने पर बुझाए भी नहीं बुझती। यहाँतक कि मिलने पर भी वियोग-सा ही दुःख उठाना पड़ता है। प्रियतम को देखते समय देखते नहीं बनता और न पता चलता है कि वास्तव में मेरी दृष्टि है अथवा किसी छल प्रपंच का स्वप्न देख रहा हूँ। आँखें तो रूप-रस से तृप्त नहीं हो पातीं और लोभ से उत्पन्न होकर लाखों अभिलाषाएं प्रति दिन बढ़ती ही

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

जाती हैं। थोड़ी सी "मुहाँचहीं" होते ही सब अपनापन एकाएक भूल-सा जाता है और "लालसानि भीजि रीझि बातैं न परैं कही।" जब बातें तक करने में यह दशा है तो अपने दुख की कथा किस प्रकार कही जा सकती है।

क्योंकि,

उर गति ब्योरिबे को सुंदर सुजान जू को,
लाख-लाख विधि सों मिलन अभिलाषियै।
बातैं रिस रस भीनी कसि गसि गाँस झीनी,
बीनि-बीनि आछी भाँति पाँति रचि राखियै॥
भाग जागै जो कहूँ बिलोकैं घन आनँद तौ,
ता छिन के छाकनि के लोचन ही साखियै।
भूली सुधि सातौं दसा विवस गिरत गातौ,
रीझि बावरे ह्वै तब औरै कछु भाखियै॥[1]

अर्थात् ज्यों-त्यों करके अनेक प्रकार की तैयारियाँ कर चुकने के अनंतर भी प्रियतम के समक्ष अपने हृदय का हाल प्रकट करना दुस्तर हो जाता है।

संयोग समय की इस बेबसी से कहीं बढ़कर वियोग समय की बातें हुआ करती हैं। वियोग में साधारण बातें भी विरहाग्नि को घी के समान सदा प्रज्वलित कर दिया करतीं हैं। स्मृति के कारण विरही के ऊपर बीतने वाली दशा का वर्णन घनानंद ने नीचे लिखे पद्य में बड़े ही सुंदर ढंग से किया है—

वहै मुसकानि वहै मृदु बतरानि वहै,
लड़कालो बानि आनि उर में अरति है।

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

वहै गति लैनि औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन हियरा तें न टरति है ॥
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनंद निधान प्रान पीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है ॥[1]

अथवा इसी प्रकार, 'विरहलीला' में भी घनानंद ने विरहिणी गोपियों द्वारा जैसा कहलाया है—

अनोखी पीर प्यारे कौन पावे।
पुकारों मौन में कहिबे न आवे ॥
अचंमे की अगिन अंतर जरो हों।
परो सीरी मरो नाहीं मरो हों ॥
... ...
... ...
अजों धुनि बाँसुरी की कान बोलै।
छबीली छैल डोलन संग डोलै ॥
सलौनी स्याम मूरत फिरै आगे।
कटाँछैं बान सी उर आन लागें ॥
मुकट की लटक हिय में आय हालै।
चितौनी बंक जिय में आय सालै ॥
हसन में दसन दुति की होत कौंधै।
वियोगी नैन चेटक चाय चौंधै ॥[2]

उपर्युक्त स्मृति की ही भाँति लालसा भी विरही के अंतर्जगत् में खलबली

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।
२. 'विरहलीला' (नागरी-प्रचारिणी-ग्रंथ-माला सीरीज़ नं० १५)।

मचाया करती है और घनानंद ने इस विषय के भी कई पद्य लिखे हैं जिनमें से एक नीचे देते हैं—

छबि को सदन मोद मंडित बदन चंद,
तृषित चषनि लाल कब धौं दिखाय हौ।
चटकीलौ भेष करें मटकीली भाँति सौंही,
मुरली अधर धरें लटकत आय हौ॥
लोचन दुराय कछू मृदु मुसिक्याय नेह,
भीनी बतियानि लड़काय बतराय हौ।
बिरह जरत जिय जानि आनि प्रान प्यारे,
कृपानिधि आनंद को घन बरसाय हौ॥[1]

इस पद्य के सुंदर शब्दों द्वारा कवि ने अपने प्रियतम कृष्ण की जैसी अलौकिक मूर्त्ति की कल्पना की है वैसी किसकी लालसा का लक्ष्य नहीं बन सकती! इसीलिए तो विरही की आँखों की ऐसी दशा हो गई है—

गहे एक टेक टारि दीने हैं विवेक सब,
कौन प्यार पीर पूरे नीरहि रितौत हैं।
कैसे कही जाय हेली इन की दुहेली दसा,
जैसे ये वियोग निसिबासर बितौत हैं॥
कहिबे को मेरे पै अनेरे मेरे जाहिं नाहिं,
अतिही अमोही मोहि नैकौ न हितौत हैं।
जबतें निहारे घन आनंद सुजान प्यारे,
तबते अनोखे दृग कहिं न चितौत हैं॥[2]

ऐसी आँखों का खुलना अथवा मुँदा रहना दोनों ही बराबर है, क्योंकि

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।
२. वही।

ये तो जगने के समय भी सदा सोती सी ही रहा करती हैं। केवल आँखों की ही यह दशा हो सो बात नहीं, यहाँ तो—

जबतें निहारे इन आँखिन सुजान प्यारे,
तबतें गही है उर आन देखिबे की आन।
रस भींजै बैननि लुभाइ कै रचे हैं तहीं,
मधु मकरंद सुधा नाँवो न सुनत कान॥
प्रान प्यारी न्यारी घन आनंद गुननि कथा,
रसना रसीली निसि बासर करत गान।
अंग-अंग मेरे उनही के संग रंग रँगे,
मन सिंघासन पै विराजै तिनही को ध्यान॥[1]

इसी प्रकार घनानंद ने अपने मन के विषय में एक स्थान पर कहा है—

जान प्रवीन के हाथ को बीन है,
मो चित राग भरयो नित राजै।

ऐसी तन्मयता तथा ऐसे आत्मसमर्पण की दशा में मन की लवलीनता के कारण उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है और प्रकृति की सारी सुंदर सामग्री फीकी जँचने लगती है। कुंजों की मनोमोहक छटा, नदियों की तरल तरंगें एवं सुगंध समीर के सुहावने झोंके विरही के लिये सभी एक समान दुखदाई हो जाते हैं। बसंत पतझार-सा दीख पड़ता है और पावस की बूंदें ऐसी जान पड़ती हैं, जैसे—

बिरही को हेरि मेघ आँसुनि झरयो करै।

होली के दिनों में तो अभागे विरही को यहाँतक कहना पड़ता है—

फागुन महीना की कही ना परैं बातैं दिन-
रातैं जैसे बीतत सुने तैं डफ घोर कों।

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

कोऊ उठै तान गाय प्रान बान पैठि जाय,
चितबिच एरी पै न पाऊँ चितचोर कों ॥
मची है चुहल चहूँ ओर चोप चाँचरि सों,
कासों कहौं सहौं हौं वियोग झकझोर कों।
मेरौ मन आली वा बिसासी बनमाली बिनु,
बावरे लों दौरि-दौरि परै सब ओर कों ॥[1]

ऐसी दशा में विरही का पागल तक हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कवि ने ऐसे ही विरही की दशा के विषय में कहा भी है—

खोय दई बुधि सोय गई
सुधि रोय हँसै उनमाद जग्यो है।
मौन गहै चकि चाकि रहै
चलि बात कहै तन दाह दग्यो है ॥
जानि परै नहिं जान तुम्हैं
लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यो है।
सोचनि ही पचिए घन आनंद
हेत पग्यो किधौं प्रेत लग्यो है ॥[2]

वास्तव में ऐसी दशा शोकजनक है। क्योंकि ऐसा पुरुष किसी दूसरे की सहानुभूति प्राप्त करने के सिवाय और कुछ कर नहीं सकता। वह अपनी दशा तक वर्णन करने में असमर्थ है। न तो वह बोल सकता है और न पत्र ही लिख सकता है—जैसे,

जगि सोवनि मैं जगिये रहै चाह
बहै बरराय उठै रतिया।

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।
२. वही।

भरि अंक निसंक ह्वै भेंटन कों
अभिलाख अनेक भरी छतिया ॥
मन तें मुख लौं नित फेर बड़ो
कित ब्योर सकौं हिय की बतिया ।
घन आनंद जीवन प्रान लखौं
सुलिखी किहि भाँति परै पतिया ॥[१]

यह असमर्थता यहाँतक पहुँचती है कि कुछ करते ही नहीं बनता और मनोरथों को दबाए हुए भीतर ही भीतर घुलते रहना भी कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में बेचैनी बेहद सताने लगती है और विरही को प्रलाप की भाँति कहना पड़ जाता है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ
दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं ।
आगि जरौं अकि पानि परौं
अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं ॥
जो घन आनंद ऐसी रुची तौ
कहा बस है अहा प्राननि पीरौं ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें
धरनी में धँसौं कै अकासहिं चीरौं ॥[२]

अर्थात् पता नहीं चलता कि तुम बाहर हो या अंदर, तुम्हारे लिये आँखें फाड़-फाड़कर घूमता फिरूँ और तुम्हें ढूँढ़ूँ अथवा अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ बैठा रहूँ, आग में पड़ूँ अथवा पानी में डूब मरूँ। क्या करूँ और किस प्रकार हृदय को धैर्य बँधाऊँ, यह समझ में नहीं आता। यदि ऐसी ही रुचि हो तो कोई हानि नहीं, विवश तो हूँ ही,

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।
२. वही।

प्राण पीड़ा सहन करते रहेंगे। प्रश्न केवल यही है कि तुम्हारे दर्शन की लालसा में अब पाताल प्रवेश कर जाऊँ अथवा आकाश में कहीं उड़ भागूँ ?

इसी प्रकार विवशता दिखलाते हुए एक कवित्त द्वारा कहते हैं—

कौन की सरन जैयै आपु त्यों न काहू पैयै,
सूनो सो चितैयै जग दैया कित कूकियै।
सोचनि समैयै मति हेरत हिरैयै उर,
आँसुनि भिजैयै ताप तैये तन सूकियै॥
क्यों करि बितैयै कैसे कहाँ धौं रितैयै मन,
बिना जान प्यारे कब जीवनि ते चूकियै।
बनी है कठिन महा मोहि घन आनँद यों,
मीचौ मरि गई आसरो न जित ढूकियै॥[1]

तात्पर्य यह कि विवश विरही इतना निःसहाय हो जाता है कि निरंतर दुःख सहते रहने के अतिरिक्त उसके पास कोई उपाय नहीं। चाहने पर उसे विपत्ति से छुटकारा देने के निमित्त मृत्यु तक भी नहीं आती। इससे बढ़कर और दूसरी निराशाजनक बात क्या हो सकती है!

परंतु आश्चर्य तो यह है कि निराशा की अंतिम सीमा तक पहुँचने पर भी प्रेमी अपनी पुरानी टेक छोड़ नहीं सकता। वह कठिन से कठिन दुखों का भी स्वागत करता जायगा और अंततक अपने प्रियतम का हृदय द्रवित करने की चेष्टा करता जायगा। उसका कहना है—

आसा गुन बाँधि कै भरोसो सिल धरि छाती,
पूरे पन सिंधु मैं न बूड़त सकाय हौं।
दुख दव हिय जारि अंतर उदेग आँच,
निरंतर रोम-रोम त्रासनि तपाय हौं॥

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

लाख-लाख भाँतिन को दुसह दसानि जानि,
साहस सहारि सिर आरे लौं चलाय हौं।
ऐसे घन आनँद गही है टेक मन माहिं,
एरे निरदई तोहि दया उपजाय हौं॥[1]

प्रेमी को इस बात का पूर्ण भरोसा है कि उसके प्रियतम का—

कबहूँ तौ मरियै पुकार कान खोलि है।

और बस इतना ही उसके जीवन का आधार भी है। कारण यह है कि अपने प्रियतम की कठोरता तक को भली समझने का उसे स्वभाव-सा हो गया है और यही उसके विश्वास की जड़ है। विरही का कथन है—

अंतर गठीले मुख ढीले ढीले बैन बोलौ,
सुंदर सुजान तऊ प्राननि खरैं खगौ।
साँच की सी मूरति है आँखिन में पैठो आय,
महा निरमोही मोह सों मढ़े हिये ठगौ॥
आनँद के घन उघरे पैं छल छाय लेत,
कटुताई मेरे रोम रोमनि अमी पगौ।
चाह मतवारी मति भई है हमारी देखौ,
कपट करेहू प्यारे निपट भले लगौ॥[2]

घनानंद ने इसी प्रकार विरही के बहुत से अन्य सूक्ष्म मानसिक व्यापारों को भी अपनी सुंदर उपयुक्त एवं प्रसादपूर्ण भाषा द्वारा अंकित करने में सफलता प्राप्त की है जिसके उदाहरण उनके 'सुजानसागर' तथा 'विरहलीला' नामक ग्रंथों में सर्वत्र भरे पड़े हैं। किंतु इस विरहवर्णन से भी बढ़कर घनानंद का मुख्य विषय विरहनिवेदन है जिसके लिये कदाचित् सारे हिंदी साहित्य में इनकी बराबरी करने वाला कोई दूसरा

---

१. वही।

२. वही।

कवि नहीं मिल सकता। घनानंद ने साधारण कवि-परंपरा की कृत्रिम शुष्क एवं परिमित शब्दावली को अपर्याप्त समझकर अपनी भाषाशक्ति के बलपर एक नवीन स्वाभाविक शैली का अनुसरण किया है जिसमें विरहनिवेदन करते समय विरही की पीर, उसकी सचाई, उसकी आशा, उसकी टेक एवं सानुरोध विनय का वास्तविक रूप सामने आ जाता है और संभव नहीं कि कितना ही तटस्थ रहने वाला भी अपने को इसके प्रभाव से बचा सके। देखिए विरहनिवेदन में अपनी दशा दर्शाता हुआ विरही कहता है—

उघरि नचे हैं लोकलाज ते बचे हैं पूरी,
चोपनि रचे हैं सुदरस लोभी रावरे।
जके हैं थके हैं मोह मादिक छके हैं अब
बोले पै बके हैं दसा चितै चितचावरे॥
औसर न सोचैं घन आनँद विमोचैं जल
लोचैं वही मूरति अरबरानि रावरे।
देखि-देखि फूलैं ओट भ्रम नहीं भूलैं देखो
बिन देखे भए ये वियोगी दृग बावरे॥[1]

अथवा,

बेध्यो लै बिसासी मोह गाँसी नेकु हाँसी ही मैं
घूमि-घूमि मेरो घनौ मरम महा पिराय।
होत न लखाय क्यों हू हाय-हाय कहा करौं
जरौं विष ज्वाल पै न काल कैसे हूँ निराय॥
जीवन की मूरि जाहि मान्यो तिन चूर करी
खरी विपरीति दई हेरि हियरो हिराय।

1. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

हेरी घन आनँद सुजान बैरी पैंडे परयो
 देरी अब ऊतर यों धीरहू चल्यो धिराय ॥[1]

उपर्युक्त दोनों पद्यों में विरह-व्यथा का गहरापन, शब्दों की सादगी एवं सार्थकता तथा भाषा की शक्ति और सुंदरता ये सभी देखने योग्य हैं। इनमें एक शब्द भी व्यर्थ नहीं और न ऐसे ही हैं जिनके द्वारा उचित प्रभाव न पड़ता हो। इसी प्रकार विरही की चाटुकार पूर्ण भी देखिए—

घेरयो घट आय अंतराय पट निपट पै
 तामधि उजारे प्यारे मानुस के दीप हौ।
लोचन पतंग संग तजै न तऊ सुजान
 प्रान हंस राखिबे कों धरे ध्यान सीप हौ॥
ऐसे कहौं कैसे घन आनँद बताऊँ हरि
 मन सिंहासन बैठे सुरत महीप हौ।
डीठि आगे डोलौ जो न बोलौ कहा बसु लागै
 मोहि तो वियोग हू मैं दीसत समीप हौ॥[2]

अथवा,

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान कहौ
 कैसे रहैं प्रान जो अनखि अरसाय हौ।
तुम तो उदार दीन हीन आनि पर्यो द्वार
 सुनिये पुकार पाहि कौलों तरसाय हौ॥
चातक है रावरो अनोखो मोहि आवरो सु-
 जान रूप बावरो बदन दरसाय हौ॥

१. वही।
२. वही।

बिरह नसाय दया हिय मैं बसाय आय,
हाय कब आनँद को घन बरसाय हौ ॥[1]

प्रेमी कभी-कभी अपनी ओर से हठधर्मीपन की भी सूचना देता है—जैसे,

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों
सूरे पन पूरे जिन्हैं विष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज पुंज,
ता बिन बिचारिनिहीं जोतिजाल तमी है॥
चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै आनँद घन
प्रीति रीति विषम सुरोम रोम रमी है।
मोहि तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है॥[2]

एक दूसरे पद्य में इसी भाँति एक हलका सा उलाहना देता हुआ प्रेमी विनय करता है—

तेरे देखिबे कों सबही तें अनदेखी करी
तूहूँ जो न देखे तो दिखाऊँ काहि गति रे।
सुनि निरमोही एक तोही सों लगाव मोही
सोही कहि कैसे ऐसी निठुराई अति रे॥
विष सी कथानि मानि सुधा पान कर्‌यो जान
जीवन निधान है बिसासी मारि मति रे।
जाहि जो भजै सो ताहि तजै घन आनँद क्यों
हति कै हितूनि कहो काहू पाई पति रे॥[3]

---

१. वही।
२. वही।
३. वही।

घनानंद ने अपने ग्रंथ 'विरहलीला' में भी गोपियों द्वारा कहलाया है—

कहैं अब कौन सों बिरहा कहानी।
न जानी ही न जानी ही न जानी ॥
... ...
... ...
सुहाई है तुम्हैं कैसी अनैसी।
कहैं कासों करो तुमही जु ऐसी ॥
जरावै नीर तौ फिर को सिरावै।
अमी मारे कहौ जू को जिवावै ॥
जो चंदा तें झरै दैया अंगारे।
चकोरनि की कहौ गति कौन प्यारे ॥
... ...
... ...
चढ़ाई मूँड अब पायन परैंगी।
कहो जोई अजू सोई करैंगी ॥
दई कौं मान कै अब आन ज्यावो।
पियासी हैं पियारे सुरस प्यावो ॥
तिहारी हैं कछू क्यों हूँ जियेंगी।
विरह घायल हियो ज्यों-त्यों सियेंगी ॥[1]

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि घनानंद एक सच्चे प्रेमी कवि हैं। इस कारण उनकी रचनाएं अनुभवी हृदय के सच्चे उद्गारस्वरूप हैं। उनमें स्वाभाविकता है, कृत्रिमता नहीं। अतएव जो कुछ उन्होंने कहा है एक सीधे-सादे ढंग से कहा है और इसी कारण, उनकी शैली में बनावटी बाँकपन अथवा अत्युक्ति का भद्दापन नहीं दिखलाई देता। घनानंद को

---

१. 'विरहलीला'।

अपनी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द व्यर्थ विशेषणों की सजावट नहीं चाहते और शब्दों के विन्यास, उनकी योजना एवं सार्थकता से वाक्यों में एक प्रकार की स्फूर्ति अथवा जीवन का संचार होता दीखने लगता है। घनानंद एक अच्छे संगीतज्ञ थे और उनका हाथ काव्य-रचना में भी भलीभाँति मँजा हुआ था। इस कारण जैसा प्रवाह, जैसा गेयत्व इनकी पंक्तियों में वर्त्तमान है उतना हिंदी साहित्य में देखने को कम मिलेगा। यहाँ पर हम घनानंद की कुछ और उत्कृष्ट कविताओं को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते, सौंदर्य के विषय में कल्पना करते हुए कहते हैं—

माधुरी गहर उठै लहर लुनाई जहाँ
कहाँ लों अनूप रूप पानिप बिचारियै।
आरसी जो सम दीजै बूझ कों असूझ कीजै
आछे अंग हेरि फेरि आयो न निहारियै॥
मोहिनी की खानि है सुभाइ ही हँसनि जाकी
लाड़िली लसनि ताकी प्रानंनि तैं प्यारियै।
रीझौ रीझि भीजैं घन आनंद सुजान महा
बारियै कहा सकोच सोच नहीं हारियै॥[1]

इसी प्रकार चाँदनी को प्रलय के समुद्र का रूपक देकर वर्णन करते हैं—

फैलि रही घर अंबर पूरि
मरीचिनि बीचिनि संग हिलोरति।
भौंर भरी उफनात खरी
सुउपाव की नाव तरैरनि बोरति॥
क्यों बचियै भजिहूँ घन आनँद
बैठि रहे घर पैठि ढढोरति।

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

जोन्ह प्रलै के पयोनिधि लौं बढ़ि
बैरनि आज वियोगिनि बोरति ॥[1]

नीचे लिखे दो पद्यों में विरही कवि ने क्रमशः मेघ तथा वायु से सहायता के लिये प्रार्थना की है—

पर काजहि देह को धारि फिरौ
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा की समान करौ
सबही बिधि सज्जनता सरसौ ॥
घन आनँद जीवन दायक हौ
कछु मेरि यौ पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के
आँगन मों असुवानिहि लै बरसौ ॥[2]

तथा,

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तोसो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै ॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
विरह विथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पायनि की हाहा नैकु आनि दै ॥[3]

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।
२. वही।
३. वही।

उपालंभ के भी दो उदाहरण लीजिए—

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री
　　　　कूकि-कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैंड परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्योंही
　　　　चातक घातक त्योंही तुहूँ कान फोरि लै॥
आनँद के घन प्रान जीवन सुजान बिना
　　　　जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद बरसावन वे
　　　　तौं लौं रे डरारे बज्मारे घन घोरि लै॥[1]

तथा,

तोहि सब गावैं एक तोही को बतावैं वेद
　　　　पावैं फल ध्यावैं जैसी भावनानि भरि रे।
जल थल व्यापी सदा अंतरजामी उदार
　　　　जगत में नाम जानराय रह्यो परि रे॥
एते गुन पाय हाय छाय घन आनँद यों
　　　　कैधौं मोहि दीस्यो निरगुन ही उघरि रे।
जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासौं
　　　　दई गयो तुहूँ निरदई ओर ढरि रे॥[2]

इसी भाँति अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति घनानंद कहते हैं—

चाहिये न कछू जाकी चाह तासों फल पायो
　　　　यातें वाही बनिकै सरूप नैन कीन्यो घरु।
जहाँ राधा केलि बेलि कुल की छवनि छायो,
　　　　लसत सदाईं कूल कालिंदी सुदेस थरु॥

---

१. वही।
२. वही।

महा घन आनँद फुहार सुखमार सींचे
हित उत सननि लगाय रंग भर्‍यो झरु।
प्रेम रस मूल फूल मूरति बिराजौ मेरे
मन आल बालकृष्ण कृपा कौ कलपतरु ॥[1]

विरही कविवर घनानंद का प्रेम आरंभ में लौकिक सौंदर्य के फेर में उत्पन्न हुआ था। किंतु अंत में कृष्ण की अलौकिक रूपराशि की दर्शन-लालसा में परिणत हुआ और वे अपने अंतिम समय में पूर्ण भक्त होकर ही मरे थे। उनके विषय में लिखते हुए गोस्वामी राधाचरण जी ने इसीलिए कहा है—

नादिरशाही ब्रजरज मिले,
किय न नैक उचाट मन।
हरि भक्ति बेलि सेचन करी,
घन आनँद आनंद घन ॥

---

१. 'रसखान और घनानंद' (सुजानसागर)।

बोधा कवि का 'विरह वारीश'

१

बोधा कवि की उपलब्ध रचनाओं में उनका पूरा परिचय नहीं मिलता। उनकी 'इश्कनामा' नामक रचना की जो प्रति सन् १९१७ ई० की त्रैवार्षिक खोज में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को मिली है उसके अनुसार बोधा कवि ने 'नरनाह खेत सिंह' के कहने से उसको लिखा था और इस बात का समर्थन कि खेत सिंह उनके आश्रयदाता थे उनके 'विरह वारीश' ग्रंथ से भी होता है 'इश्कनामा' की उपर्युक्त प्रति में जो दोहा सर्वप्रथम मिलता है वह इस प्रकार है—

खेत सिंह नरनाह को, हुकुम चित्त हित पाइ।
ग्रंथ इश्कनामा कियो, बोधा सुकवि बनाइ॥[1]

'विरह वारीश' के जो दोहे इस संबंध में लिखे गए मिलते हैं उनमें से दो निम्नलिखित हैं, जैसे—

पंती छत्र बुंदेल को, छेत्र सिंह भुवमान।
दिल माहिर जाहिर जगत, दान युद्ध सनमान॥
सिंह अमान समर्थ के, भैया लहरे आहिं।
बुद्धिसैन चित चैनयुत, सेवौं तिन्हैं सदाहिं॥[2]

इन दोहों से यह भी पता चल जाता है कि खेत सिंह जिनकी सेवा में ये रहा करते थे प्रसिद्ध छत्रसाल के प्रपौत्र थे, इनके बड़े भाई का नाम अमान सिंह था और स्वयं कवि का भी वास्तविक नाम 'बुद्धिसेन' था।

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' काशी (वर्ष ४२ अंक १) पृ० २० पर उद्धृत।

२. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ) पृ० २।

अपने 'कवि कल्पतरु' में खेत सिंह का कुछ अधिक ब्यौरेवार परिचय देते हुए ये उस ग्रंथ के एक स्थल पर इस प्रकार भी लिखते हैं—

बुन्देला बुन्देल खंड काशी कुल मंडन।
गहिरवार पंचम नरेश अरिदल बल खंडन॥
तासु वंश छत्ता समर्थ पर नीपत बुझिये।
तासु सुवन हिरदेस कुल्ल आलम जस सुझिये॥
पुनि सभासिंह नरनाह लखि, वीर धीर हिरदेस सुव।
तिहि पुत्र प्रबल कवि कल्पतरु, खेत सिंह चिरजीव हुव॥[1]

जिससे स्पष्ट हो जाता है कि खेत सिंह के पिता का नाम सभा सिंह था, पितामह हृदय सिंह थे ओ प्रपितामह छत्रसाल थे। इनमें से महाराज छत्रसाल का समय सं० १७०१ से सं० १७८८ तक था, हृदय सिंह वा हृदयशाह की मृत्यु सं० १७९६ में हुई थी और उनके पुत्र सभा सिंह सं० १८०९ तक जीवित थे तथा उपर्युक्त अमान सिंह की हत्या सं० १८१५ में हुई थी।[2] तदनुसार खेत सिंह का विक्रम की १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर उसकी १९वीं के प्रथम चरण तक वर्त्तमान रहना सिद्ध होता है।

फिरभी इसकी सहायता से हमें बोधा कवि के जीवनकाल का निश्चय पूर्णतः नहीं हो पाता। इनकी उपलब्ध रचनाओं में उनके रचनाकाल का भी कोई संकेत नहीं मिलता। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में 'बोधा कवि' नाम के अनंतर 'सं० १८०४ में उ०' लिखा है[3] जिसे ऊपर दिये गए संवतों के अनुसार, 'सं० १८०४ में

१. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० ३।
२. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', काशी (भाग १३, पृ० ११५-३८)।
३. 'शिवसिंह सरोज' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० ४५७ (सन् १९२६ सं०)।

उपस्थित' कहना ठीक है। यह काल उनकी उत्पत्ति का समय अर्थात् 'जन्म संवत्' नहीं हो सकता जैसा स्व० आचार्य शुक्ल ने अनुमान किया है।[1] 'इश्क़नामा' के संपादक स्व० नकछेदी तिवारी ने अपनी भूमिका में इस संवत् को 'अंदाजी' बतलाकर इसके विषय में 'बिलकुल शक' किया है। परंतु यदि 'उ०' को 'उपस्थित' का ही संक्षिप्त रूप मान लिया जाता है तो उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस 'उ०' को काव्यकाल के अर्थ में समझते जान पड़ते हैं।[2] किंतु यह भी अक्षरशः ठीक नहीं कहा जा सकता। काव्य-काल किसी ग्रंथ विशेष का रचना-काल मात्र नहीं जो किसी एक संवत् के भी द्वारा निर्दिष्ट किया जा सके। उसके लिए कोई अवधि भी अपेक्षित है जो दो भिन्न-भिन्न संवतों वा तिथियों की सहायता से ही संभव मानी जा सकती है। ठाकुर शिवसिंह ने अपने 'उ०' का प्रयोग, इसीलिए, संभवतः किसी कवि के 'उपस्थित' वा वर्त्तमान रहने के ही अर्थ में सर्वत्र किया होगा और इसके लिए प्रत्येक दशा में उन्हें कुछ न कुछ संकेत भी मिला होगा। मिश्रबंधुओं का कहना है कि, सं० १८१५ में लिखे गए सूदन कवि के 'सुजान चरित्र' में उल्लिखित १७५ कवियों की नामावली में इनका नाम न आने से, जान पड़ता है कि ये उस काल तक भलीभाँति प्रसिद्ध न हो चुके होंगे।[3] उनका यह अनुमान ठीक भी हो सकता है। 'विरह वारीश' के आरंभ में दिये गए बोधा कवि के संकेतों से पता चलता है कि उस ग्रंथ को इन्होंने अपने ऊपर बीती घटनाओं के अनंतर ही पूरा किया था। उसी समय इन्होंने

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (काशी नागरिक प्रचारिणी सभा) पृ० ४२५।

२. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', काशी (वर्ष ५२, पृ० २२)।

३. 'मिश्रबंधु विनोद' (द्वितीय भाग) पृ० ७५८।

रसीली 'विरही कथा' को अपने आश्रयदाता खेत सिंह के सामने 'स्थिर हो-होकर' सुनाया और उसे सुनकर वे ऐसे रीझे कि उन्होंने इनके प्रति किये गए क्रोध का परित्याग कर दिया।

> यो सुन थिर हो-हो कभी विरही कथा रसाल।
> सुन रीझे खीजैं तजी, खेत सिंह छितिपाल ॥[1]

अतएव, सभी बातों या विचार करते हुए कहा जा सकता है कि बोधा कवि का जीवन-काल विक्रम की १८वीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर उसकी १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक रहा होगा और कविता-काल उसके अंतिम २०-२५ वर्षों में रहा होगा।

स्व० नकछेदी तिवारी ने 'बुंदेलखंडी कवि लोगों' के आधार पर बतलाया है[2] कि बोधा कवि (अथवा बुद्धिसेन) सरवरिया ब्राह्मण थे और वे 'राजापुर प्रयाग' के रहने वाले थे, किंतु किसी घनिष्ठ संबंध के कारण बचपन से ही पन्ना में रहा करते थे। इन्हें संस्कृत एवं फ़ारसी का अच्छा ज्ञान था और ये हिंदी में कविता भी किया करते थे जिस कारण अपने संबंधियों के साथ में दर्बार तक पहुँच गए और इनके गुणों से प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हें प्यार के कारण बुद्धिसेन से 'बोधा' कहना आरंभ कर दिया। इसके अनंतर की कथा जो स्व० तिवारी जी बतलाते हैं वह प्रायः उसी रूप में इस कवि की रचना 'विरह वारीश' से भी प्रमाणित हो जाती है। बोधा ने स्वयं स्वीकार किया है मुझसे वहाँ पर कुछ 'खोटी' अर्थात् भूल हो गई जिस कारण मुझे भयवश वह स्थान छोड़कर अन्यत्र चला जाना पड़ा। महाराज की आपत्ति के कारण अपनी प्रियतमा के साथ मेरा वियोग हो गया और मैं विरह सागर में

---

१. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० २-३।
२. इश्क़नामा (भूमिका) पृ० १-२।

गोता खाता फिरा। मैं एक वर्ष की अवधि तक महाराज की प्रसन्नता की प्रतीक्षा करता रहा। इस बीच मैं कई अन्य नरेशों के पास गया और उनसे दान और सम्मान भी पाया, किंतु महाराज खेतसिंह के यहाँ का सुख मुझे कहीं भी न मिल सका। अंत में मैंने निश्चय किया कि किसी प्रकार चलकर फिर उन्हीं की शरण में रहना चाहिए। इसके लिए उनसे मिलने के अवसर पर अपनी भेंट देने के निमित्त मैंने माधवानल की कथा को अपनी प्रियतमा के परामर्श से भाषा में रूपांतरित कर लिया। मैंने उस रसीली कथा को उन्हें इस प्रकार सुनाया कि वे रीझ गए और उनका क्रोध शांत हो गया, जैसे—

कछु मोते खोटी भई, छोटी यही बिचार।
डर मान्यो, मान्यो मने, तज्यो देश निरधार॥
इतराजी नरनाह की, बिछुरि गयो महबूब।
बिरहसिंधु बिरही सुकवि, गोता खायो खूब॥
वर्ष एक परखत फिरो, हर्षवंत महराज।
लह्यो दान सनमान पै, चित न चह्यो सुखसाज॥

× × ×

बदि दाता बड़ कुल सबै, देखे नृपति अनेक।
त्याग पाय त्यागे तिन्हें, चित में चुभे न एक॥

× × ×

बनत यहै बनिता कही, वे राजा तुम दीन।
भाषा कर माधोकथा, सो लै मिलौ प्रबीन॥
यो सुन थिर ह्वै हो कवी, बिरही कथा रसाल।
सुन रीझे खीजैं तजे खेत सिंह छितिपाल॥"[1]

अपनी प्रियतमा का नाम बोधा कवि ने भी 'सुभान' ही बतलाया

---

१. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० २-३।

है और उसे "नवयौवन बनिता निपुण, शुभगुण सदन सुभान"[1] कहा है। स्व० तिवारी जी ने 'सुभान' को दर्बार की एक 'यमनी वेश्या' के रूप में भी चित्रित किया है और उसके संबंध के वर्णन को कुछ विस्तार दिया है। उन्होंने कवि के देश निकाले की अवधि केवल छः महीने की लिखी है जो 'विरह वारीश' के अनुसार, दूसरे ढंग से एक वर्ष की जान पड़ती है। स्व० तिवारी जी का 'राजापुर प्रयाग' भी संभवतः राजापुर ज़िला बाँदा रहा होगा। उनके अनुसार पन्ना लौटने पर महाराज की स्वीकृति से बोधा को फिर सुभान मिलगई और ये उसके साथ राजधानियों में घूम-घूमकर अपना जीवन व्यतीत करते रहे। फिरभी इनका देहांत पन्ना में ही आकर हुआ जिसके लिए कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। स्व० तिवारी जी को 'विरह वारीश' की कोई प्रति नहीं मिल सकी थी और उनकी 'इश्क़नामा' वाली प्रति भी कदाचित्, कुछ अंशों में अपूर्ण थी। उस रचना की जो हस्तलिखित प्रतियाँ इधर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को मिली हैं उनमें उसका एक नाम 'विरही सुभान दंपति विलास' भी दीख पड़ता है और सन् १९१७ की त्रैवार्षिक खोज वाली उसकी प्रति के आरंभ में दिये गए एक दोहे से खेतसिंह का आश्रयदाता होना भी सिद्ध है। 'इश्क़नामा' वा "विरही-सुभान-दंपति विलास' वस्तुतः फुटकर दोहों, कवित्तों, छंदों, सोरठों, सवैयों तथा बरवै छंद की रचनाओं का एक संग्रह है। उसमें संगृहीत पद्यों में से बहुत से 'विरह वारीश' से लिये गए जान पड़ते हैं। उनमें से तीन चौथाई से भी अधिक का विषय प्रेम है।

२

बोधा कवि का 'विरह वारीश' ग्रंथ एक प्रेमाख्यानक प्रबंध काव्य है इसमें प्रेमी माधवानल तथा उसकी प्रेमिका कामकंदला

---

१. विरह वारीश (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ) पृ० ३।

की प्रेमकथा कही गई है और इसी कारण, इस रचना का एक दूसरा पूरा नाम 'विरह वारीश माधवानल कामकंदला चरित्र' भी है माधवानल एवं कामकंदला की प्रेम-कथा बोधा के बहुत पहले से चली आ रही थी और वह संस्कृत भाषा में लिखी जा चुकी थी। उसका एक हिंदी संस्करण भी आलम कवि द्वारा सं० १६४० में लिखा जाकर प्रसिद्ध हो चुका था। आलम एक प्रेमी हिंदी कवि थे। उनकी प्रेमिका का नाम शेख था जिसके साथ उनका कदाचित् विवाह-संबंध भी हो गया था। वे हिंदू से मुसलमान हो गए थे। इधर बोधा कवि की प्रेमिका सुभान भी संभवतः एक मुस्लिम वेश्या थी जिसके साथ उनका प्रेम प्रकट हो जाने पर उन्हें पहले देश निकाले का दंड मिला और एक वर्ष की अवधि तक मारे-मारे फिरकर वे अंत में, उसे किसी प्रकार पा सके थे। बोधा के धर्मांतरित हो जाने का पता नहीं चलता और न उनके अंतिम दिनों की बातें विवरण के साथ मिलती हैं। परंतु जो कुछ भी अंश उनकी जीवनगाथा का आजतक उपलब्ध है उससे स्पष्ट है कि माधवानल एवं कामकंदला की कथा के साँचे में उन्होंने स्वयं भी अपने जीवन को ढाल दिया था और इस प्रकार वे माधवानल के निकट 'प्रेम की पीर' के नाते आलम से भी कहीं अधिक थे। बोधा कवि ने माधवानल की कथा को आत्मचरित-सा रूप दे दिया है और उसे पूरी लगन और सावधानी के साथ लिखने की चेष्टा की है। ग्रंथ के आरंभ में अपनी प्रियतमा 'बाला' सुभान द्वारा 'प्रीति की रीति' जानने के लिए अपने प्रति प्रश्न कराते हैं। उसके उत्तर में वे प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हैं और बतलाते हैं कि प्रेमभाव के जागृत हो जाने पर उसे अंत तक निभा ले जाना असंभव सा है उनके अनुसार वास्तविक प्रेम वहीं समझा जा सकता है जहाँ लौकिक प्रेम के ही अंतर्गत आध्यात्मिक प्रेम का भी अस्तित्व बना रहता है। वह प्रेम यथार्थ में स्वयं 'ब्रजराज' वा भगवान् स्वरूप है जिसे बोधा अपना 'महबूब' ठहराते हैं।

होय मजाजी में जहाँ, इश्क़ हकीकी खूब।
सो साँचो ब्रजराज है, जो मेरा महबूब ॥[1]

सच्चे प्रेम की आदर्श मूर्त्ति बोधा ने माधवानल और कामकंदला को माना है और इसीलिए उनकी कथा का वर्णन किया है। सारा ग्रंथ इस प्रकार विरही (बोधा कवि) एवं बाला (सुभान) के संवाद के रूप में रचा गया है।

माधवानल एवं कामकंदला की प्रेम-कथा की एक परंपरा भी बोधाकवि ने दी है और कहा है,

सुन सुभान अब कथा सुहाई। कालिदास बहुरुचि सह गाई ॥
सिंहासन बत्तीसी मांही। पुतरिन कही भोज नृप पाहीं ॥
पिंगल कँह बैताल सुनाई। बोधा खेत सिंह सह गाई ॥[2]

ग्रंथ में इस कवि ने नव खंड किये हैं जिनमें से प्रत्येक में एक से अधिक तरंग हैं। प्रत्येक तरंग का नाम नहीं दिया है, किंतु खंडों का नामकरण उनमें कही गई प्रधान कथा के अनुसार किया गया है, जैसे—

प्रथम शाप पुनि बाल द्वितिय आरन्य खंड गुनि।
पुनि कामावति देस वेस उज्जैन गवन भनि ॥
युद्ध खंड पुनि गाह रुचिर सिंगार बखानो।
पुनि बहुधा वनदेस, नवम बर ज्ञान बखानो ॥
कहि प्रीति रीति गुन की सिपत, नृप विक्रम को सरस जस।
नव खंड माधवा कथा में, नवरस विद्या चतुरदस ॥[3]

अर्थात् इस 'विरह वारीश' ग्रंथ के नव खंड क्रमशः (१) शाप, (२) बाल, (३) आरण्य, (४) कामावती, (५) उज्जैन, (६) युद्ध, (७) श्रृंगार, (८) वनदेश तथा (९) ज्ञान हैं और इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत भिन्न-भिन्न

---

१. विरह वारीश (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० ४।
२. वही, पृ० ६।
३. वही, पृ० २।

तरंगों की रचना की गई है। पूरा ग्रंथ अभी तक कहीं से प्रकाशित नहीं हो सका है। सर्वप्रथम यह जून सन् १८९४ में लखनऊ के 'नवलकिशोर प्रेस' में छपा था जो केवल 'पूर्वार्द्ध' था परंतु पूर्वार्द्ध कहलाने पर भी इस संस्करण में नव खंडों में से सात खंड तक आ जाते जान पड़ते हैं। केवल अंतिम दो खंड अर्थात् 'वनदेश खंड' तथा 'ज्ञान खंड' रह जाते हैं जिनके तरंगों की संख्या वा विस्तार का कुछ अनुमान नहीं हो पाता। इसमें आये हुए खंडों में से प्रथम पाँच में ४-४ तरंग हैं, छठे में केवल तीन हैं और सातवें में इनकी संख्या आठ तक की है। ग्रंथ के उपलब्ध प्रकाशित अंश को ही देखकर यह निश्चय करना कठिन है कि शेष अप्रकाशित अंश का उत्तरार्द्ध कहा जाना दो खंडों के ३१ तरंगों पर निर्भर हैं अथवा शेष कथा के विस्तार पर।

ग्रंथ की कथा का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—श्रीकृष्णचंद्र के गोकुल छोड़कर द्वारका चले जाने पर जब गोपियाँ विरहाकुल हुईं तो उन्होंने कामदेव को शाप दिया कि कलियुग में जन्म लेकर तुम्हें भी हम लोगों की भाँति विरहातुर होना पड़ेगा। इसी कारण कामदेव को माधवानल के रूप में जन्म लेना पड़ा और उसकी पत्नी रति भी राजकन्या हुई; परंतु राजकन्या से भी फिर शापित होकर उसे दूसरे जन्म में पुहुपावती नगरी के रघुदत्त नामक ब्राह्मण के घर उत्पन्न होना पड़ा जो वहाँ के राजा था कर्मचारी था माधवानल भी उसी पुहुपावती नगरी में एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ था जिसका नाम विद्याप्रकाश था। माधवानल संगीत में अत्यंत निपुण था और बहुत सुंदर भी था जिस कारण उक्त रघुदत्त की कन्या लीलावती उसपर मोहित हो गई। माधवानल भी उससे उसी भाँति प्रभावित था इसलिए समाज में निंदा की बातें फैलने पर वहाँ के राजा गोविंदचंद्र ने उसे देश निकाला कर दिया माधवानल वहाँ से विरही बनकर निकला और एक सुआ के परामर्श से कामावती नगरी पहुँच गया और किसी तमोली के घर ठहरा। एक दिन वहाँ के राजा की

ड्योढ़ी पर उसे पता चला कि भीतर नाच-रंग हो रहा है। उसके मृदंगियों में से एक के ताल देने में बाहर से ही दोष निकालकर उसने राजा को भीतर इसकी सूचना भेज दी। राजा कामसेन ने उसकी बातों को सत्य पाकर उसे बुला भेजा और उसका आदर सम्मान भी किया तथा वहाँ की नर्त्तकी कामकंदला और माधवानल के बीच पारस्परिक कलाप्रदर्शन भी हुआ।

उस समय कामकंदला के कला नैपुण्य से माधवानल इतना प्रभावित हुआ कि उसने राजा का दिया हुआ सारा पारितोषिक उसे दे डाला जिस पर अपमानित होकर राजा ने उसे अपने यहाँ से चले जाने का दंड दिया। माधवानल वहाँ से चलकर १२ दिनों तक चोरी-चोरी कामकंदला के घर टिका रहा। पर एक दिन राजदंड के भय से उसे छोड़ देशांतर के लिए निकल पड़ा। वह काम कंदला के विरह में व्याकुल था, इसलिए फिर सुआ से परामर्श लेकर वह उसे प्राप्त करने की आशा में उज्जैन जा पहुँचा। उज्जैन में राजा विक्रमादित्य का राज्य था, अतएव माधवानल ने वहाँ के महाकाल मंदिर में अपनी दशा को उसकी दीवार पर लिख दिया। राजा विक्रमादित्य को जब उसकी सूचना मिली तो उन्होंने माधवानल को बुलाकर उससे भेंट की और उसका सारा वृत्तांत जानकर उसकी सहायता के लिए कामावती नगरी की ओर ससैन्य प्रस्थान कर दिया। राजा ने फिर भेष बदलकर कामकंदला तथा माधवानल के प्रेम की परीक्षा ली और संतुष्ट होकर कामसेन राजा के यहाँ कामकंदला के लिए कहला भेजा। कुछ काल तक युद्ध हो चुकने पर कामसेन ने उनकी बात मानी और दोनों राजाओं ने मिलकर उक्त दोनों प्रेमियों को मिला दिया। परंतु कामकंदला के साथ विहार करते हुए भी माधवानल ने एक दिन स्वप्न में लीलावती को देखकर उसकी सुध की। जब राजा विक्रमादित्य को इस बात का पता चला तो उन्होंने इस ओर भी उसकी सहायता करनी चाही। इस कार्य में राजा कामसेन ने भी उनका साथ दिया और उनके प्रस्ताव

को मानकर पुहुपावती के राजा गोविंदचंद्र ने माधवानल और लीलावती का विवाह करा दिया। तदुपरांत सभी बातों के सकुशल संपन्न हो जाने पर महाराजा विक्रमादित्य तथा राजा कामसेन अपने-अपने देश चले गए। इसके आगे की कथा ग्रंथ के 'उत्तरार्द्ध' भाग में हो सकती है और उसका कुछ अनुमान शेष 'वनदेश खंड और 'ज्ञान-खंड के नामों से किया जासकता है। संभव है कि किसी दुःखद घटना के कारण माधवानल को पीछे वन जाना पड़ा हो और अंत में उसे ज्ञान हुआ हो।

कथा का उपलब्ध अंश तबतक सुखांत ही माना जा सकता है जो 'आलम' की रचना 'माधवानल कामकंदला' के भी अनुकूल है। मूल कथा इन दोनों कवियों की कृतियों में संभवतः एक ही रही होगी। दोनों में अंतर केवल प्रासंगिक कथाओं के कारण दीखता है। आलम कवि की उक्त रचना की जो प्रतियाँ 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोजों में मिली हैं वे भी दो प्रकार की पाई जाती हैं। सं० १९०४-६ वाली प्रति में अवांतर की बातें कम दीखती हैं जहाँ सं० १९२३-६ वाली में इनकी संख्या अधिक हो गई है। ऐसी ही उपकथाओं में एक वह है जिसके अनुसार इंद्र की एक जयंती नाम की अप्सरा अभिशप्त होकर शिलारूप में परिणत हो जाती है। फिर माधवानल द्वारा अपना उद्धार पाकर पीछे पृथ्वी पर कामकंदला के रूप में जन्म लेती है। उक्त दूसरे प्रकार की प्रतियों की यह कथा 'विरह वारीश' की रीति के क्रमशः राजकन्या से कामावती के दर्बार की वेश्या बन जाने के समान है। बोधा कवि ने माधव को कामदेव का अवतार बतलाकर कामकंदला को रति का प्रतिरूप माना है। किंतु इसके साथ ही उन्होंने लीलावती नामकी एक प्रेमिका का भी उसमें समावेश कर दिया है और दिखलाया है कि अंत में, उसे ही पाकर माधव को पूरी शांति मिल सकी। कवि लीलावती को माधवानल की ही भाँति एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न कराता है और उसे ही उसकी सर्वप्रथम प्रेमपात्री भी बनाता

है। इस ग्रंथ में लीलावती का प्राधान्य इस बात से भी सिद्ध किया जा सकता है कि महान् कष्टों को झेलकर प्राप्त की गई काम कंदला के साथ भोग विलास करते समय भी माधवानल उसका स्वप्न देखता है और अंत में, उसे प्राप्त करके ही अपने को कृतकार्य समझता है, इस प्रकार माधवानल कामदेव का अपनी कामकंदला रति को पुनः प्राप्त करके भी लीलावती के अभाव का अनुभव करना ठीक नहीं जँचता।

२

बोधा कवि ने लौकिक (मजाजी) प्रेम में इश्क हकीक़ी अर्थात् आध्यात्मिक प्रेम का भी होना आदर्श प्रेम का स्वरूप माना है और इसे ही 'मेरा महबूब' 'ब्रजराज' तक की संज्ञा दी है। उनका यह कथन सूफ़ियों की उस विचारधारा के साथ मिलता जुलता है जिसके अनुसार वे अपनी प्रेमगाथाओं में लौकिक प्रेम कहानियों के रूपक बाँधा करते हैं। वे किसी काल्पनिक, पौराणिक वा ऐतिहासिक कथा का आधार लेकर चला करते हैं, बीच-बीच में प्रसंगवश अपने प्रेम-सिद्धांत के अनुकूल उदाहरण और उपदेश देते चलते हैं। अंत में, बहुधा अपने रूपक को स्पष्ट करके उससे परिणाम भी निकालते हैं। हिंदी में उनकी ग्रंथ-रचना पद्धति भी एक विशेष प्रकार की देखी जाती है जिसके अनुसार सर्वत्र प्रायः दोहे-चौपाइयों का ही समावेश रहा करता है और भाषा विचार से भी अधिकतर अवधी का ही प्रयोग हुआ रहता है। उधर शुद्ध भारतीय पद्धति के अनुसार लिखी गई प्रेम कहानियों में इस प्रकार की विशेषताओं का अभाव रहता है। ये किसी मत विशेष के प्रचार के लिए नहीं लिखी जातीं। ये प्रेमाख्यान शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखे गए प्रबंध काव्य हुआ करते हैं जिनका लक्ष्य रहस्यात्मक नहीं हुआ करता। इनमें रचयिता की दृष्टि प्रकट रूप में केवल लौकिक प्रेम की ओर ही बनी रहती है; किसी आध्यात्मिक प्रेम की अपेक्षा नहीं करती। इनमें दोहों-चौपाइयों के प्रयोग का नियम भी उतना कठोर नहीं रहा करता

और न सर्वत्र अवधी भाषा ढूँढी जाती है। बोधा कवि का 'विरह वारीश' ग्रंथ भारतीय पद्धति का ही अनुसरण करता प्रतीत होता है। किंतु 'इश्क़ मजाजी' और 'इश्क़ हक़ीक़ी' की चर्चा छेड़कर तथा 'सुआ' को पथप्रदर्शक बनाकर बोधा ने अपने को कुछ अंश तक सूफ़ियों द्वारा भी प्रभावित होना बतला दिया है। पाठक के हृदय में इस कारण, कभी-कभी संदेह भी होने लगता है और इसके निराकरण के लिए वह स्वभावतः ग्रंथ के शेष अंश को भी देखने को उत्सुक बन जाता है। मूल कथा का अंत यथार्थ में माधवानल के कामकंदला को पाकर पुहुपावती तक लौट आने में ही हो जाता जान पड़ता है। परंतु बोधा कवि महाराज विक्रमादित्य और कामसेन राजा को भी वहाँ तक पहुँचा देते हैं और उनकी सहायता से अंत में, लीलावती का भी विवाह कराते हैं। आलम वाली रचना की दूसरे प्रकार वाली प्रति के अनुसार महाराज विक्रमादित्य माधव को वहाँ तक केवल पहुँचा भर देते हैं, परंतु बोधा के 'विरह वारीश' की कथा लीलावती और माधवानल के विवाह से भी आगे जाती दीख पड़ती है और उसीके भीतर कदाचित् बोधा के उपर्युक्त कथन का भी रहस्य है।

बोधा कवि ने 'ब्रजराज' वा श्रीकृष्णचंद्र को 'सो मेरा महबूब' अर्थात् 'वही मेरा प्रियतम है' कहकर उनके प्रति अपनी प्रेमाभक्ति प्रदर्शित की है जिससे प्रतीत होता है कि वे इस विषय में कुछ और भी बतलाने की चेष्टा करेंगे। परंतु सिवाय इसके कि उन्होंने श्रीकृष्णचंद्र के सौंदर्य का वर्णन किया है और तत्पश्चात् उनके साथ द्वादश वर्ष तक बिहार करने वाली गोपियों को विरहिणी के रूप में चित्रित कर उनके द्वारा कामदेव को शाप दिला दिया है कोई अन्य विशेष बात आरंभ में लक्षित नहीं होती। भगवान् के प्रति प्रदर्शित भक्तिभाव-संबंधी पद्यों का उनके 'इश्क़नामा' में भी प्रायः अभाव सा है। बोधा कवि की इस प्रेमाभक्ति का कुछ आभास 'इश्क हक़ीक़ी' की उस परिभाषा वा परिचय द्वारा मिलता है जिसे उन्होंने एक स्थल पर यों दिया है—

सुन सुभान यह इश्क़ मजाजी। जो दृढ़ एक हक्क दिलराजी ॥
पढ़ै पढ़ावै समुझै कोई। मिलै हक्क खामिद को सोई ॥
उनमुन उनमुन उनमुन मेला। इश्क हकीकी झेलमझेला ॥
लखि के ध्यान धनी को आवै। पूरण प्रेम निशानी पावै ॥
वेद किताब यहूमत बूझै। तीन लोक ऊपर तिहि सूझै ॥
नाहक कवित रचै जो कोई। हरगिज गलत पढै जो कोई ॥[1]

अर्थात् सच्चा 'इश्क़ मजाजी' वा लौकिक प्रेम भी वही है जिसमें केवल एक 'हक्क' के प्रति दृढ़ लगाव हो, जो इस बात को भलीभाँति समझ पाता है वही उस 'हक्क' प्रियतम के साथ अंत में जा मिलता है। 'इश्क़ हकीकी' वा आध्यात्मिक प्रेम का अनुभव अन्य सभी ओर से उदासीनता का भाव रखते हुए इस मन के उसके प्रति सब प्रकार से उन्मुख हो जाने में ही है। उसे एकबार 'लखकर' जो उसके ध्यान में सदा मग्न रहा करता है वही आदर्श प्रेम का अनुभव कर पाता है। इस बात का पता किसी को वेद शास्त्र वा कुरानादि की सहायता से नहीं मिला करता, उसे तो तीनों लोक से ऊपर तक की बातें आपसे आप सूझने लगती हैं। इसके लिए लिखना-पढ़ना सभी व्यर्थ है।

इस प्रकार बोधा कवि के अनुसार पार्थिव तथा अपार्थिव प्रेम में मूलतः कोई अंतर नहीं है। उन्होंने इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण में उस घटना का उल्लेख अन्यत्र किया है जहाँ महाराज विक्रमादित्य द्वारा माधवानल एवं कामकंदला के सच्चे प्रेम की परीक्षा की जाती समय कामकंदला की मृत्यु का समाचार सुनते ही माधवानल भी मर जाता है। वह 'हाय कंदला', 'हाय कंदला' कहता हुआ अपना शरीर त्यागकर चल बसा। देवताओं ने आकाश में शंखनाद किया और ऊपर चारों ओर से विमानों का जमघट सा लग गया। उधर कामकंदला ने प्राण-

---

१. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ) पृ० २८।

त्याग किये थे इधर माधवानल ने भी वही कर दिखाया। उस अवसर पर इन दोनों आदर्श प्रेमियों के लिए उस 'अखंड निजधाम' का द्वार अनायास ही खुल गया जिस तक पहुँचने के लिए मार्ग ढूँढ़ने में, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा वेदादि सदा लगे रहते हैं।

मरी नारि यह श्रवण सुनि, माधौ तन तजि दीन्ह।
हाय कंदला-कंदला, कह कंदला प्रबीन ॥
शंखनाद देवन कियो, छाये व्योम विमान।
इत तन त्यागो माधवा, उत कंदला सुजान ॥
शिव विरंचि हरि निगम नित, शोधत जाकी बाट।
ता अखंड निज धाम के, खुले अनयास कपाट ॥[1]

माधवानल और कामकंदला का प्रेम इस प्रकार, एक नगर निष्कासित ब्राह्मण और उसकी प्रेमिका वेश्या का साधारण लौकिक प्रेम मात्र नहीं था और न इसके कारण, उसकी किसी प्रकार उपेक्षा ही की जा सकती है। उसका अपना महत्त्व है और वह भी केवल इसीलिए नहीं कि दोनों प्रेमियों को मिलाने में महाराज विक्रमादित्य जैसे बड़े लोगों ने पूरा सहयोग प्रदान किया और अनेक प्रकार के कष्ट झेले, अपितु सबसे बढ़कर इस बात के लिए भी कि वह अलौकिक भी था। बोधा कवि का 'अखंड निजधाम' साधारण बैकुंठ वा कैलास आदि की श्रेणी का नहीं। 'अखंड' होने के कारण वह सर्वतोभावेन पूर्ण है और 'निजधाम' होने से परात्पर परमात्म पद वा परम पद का बोधक भी है। 'शिव विरंचि हरि' तथा 'निगम' का वहाँ तक पहुँचने के मार्ग की खोज में निरंतर भटकते फिरना इसीलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

बोधा कवि के पहले इन्हीं की भाँति देव कवि ने भी पार्थिव एवं अपार्थिव प्रेम के बीच किसी अंतर का न होना स्वीकार किया था।

---

१. 'विरह वारीश' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ) पृ० ११२।

परंतु उन्होंने राधा एवं कृष्ण की युगल मूर्ति को आदर्श दंपति का प्रतीक मानकर उसे ही आदर्श प्रेम का अवतार भी माना है। वे स्वकीया के प्रेम को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते जान पड़ते हैं और वेश्या के विषय में केवल 'श्रृंगाराभास' की ही प्रतिष्ठा करते हैं। स्वच्छंद प्रेमी बोधा कवि के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं और न ये केवल 'अवतार' कृष्ण तक ही जाना पर्याप्त समझते हैं। आदर्श प्रेम को ये उच्चातिउच्च कोटि तक पहुँचा देते हैं और उसमें एवं परमपद में कोई भेद मानते हुए नहीं जान पड़ते। देवकवि जहाँ कहते हैं—

दंपति सरूप ब्रज औतरयौ अनूप सोई।
'देव' कियो देखि प्रेमरस प्रेमनामु है॥

वहाँ बोधा कवि का कहना है,

सो साँचो ब्रजराज है, जो मेरा महबूब।

इनका 'साँचो' यहाँ संभवतः परमात्मतत्त्व की ओर ही संकेत करता है। देव एवं बोधा में इसी प्रकार, प्रेम के भिन्न-भिन्न भेद बतलाने में भी अंतर दीखता है। देव कवि ने इसके सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य नामक पाँच भेद किये हैं जिसमें विभाजन का कोई एक स्पष्ट आधार माना गया नहीं प्रतीत होता। परंतु बोधा कवि ने इसे अनुभव के साधनानुसार, चार वर्गों में विभाजित किया है और उनके लिए दृष्टांत भी दिये हैं। इनके मतानुसार,

आँख कान बुधि ज्ञान की, प्रीति चार विधि जान।
चार भाँति जिनके यथा, विरही कहे बखान॥
प्रथम पतंग कुरंग पुनि, माधवनल की प्रीति।
चौथे यारी ज्ञानमय, भृंग कीट की रीति॥[1]

जिसके अनुसार 'विरह वारीश' के नायक माधवानल के प्रेम को ये

---

१. 'विरह वारीश' (नवल किशोर प्रेस लखनऊ), पृ० ४–५।

'बुद्धि' पर आश्रित मानते समझ पड़ते हैं। 'बुद्धि' का इन्होंने कहीं कोई परिचय नहीं दिया है, किंतु प्रसंगानुसार उसे गुण वा कलानैपुण्य समझा जा सकता है। इनका आदर्श है—

भाँति अनेक प्रीति जगमाहीं। सबहि सरस कोऊ घट नाहीं।
जाको मन विरुझो है जामें। सुखी होत सोई लखि तामें॥
याते सुन यारी दिलदायक। कीजै प्रीति निबहिबे लायक।
प्रीति करै पुनि और निबाहै। सो आशिक सब जगत सराहै॥

जौ वैसी जोड़ी मिले, प्रीति करै सब कोय।
कामकंदला सी त्रिया, नर माधो सो होय॥[1]

वैसी प्रीति का ही पर्यवसान 'निजधाम' की प्राप्ति में होता है।

---

१. वही, पृ० ५।

कवि ठाकुर की प्रेम गर्भित टेक

१

'ठाकुर' नाम के कई कवि हो चुके हैं जिस कारण इसके साथ पायी जाने वाली कविताओं का पारस्परिक पृथक्करण सरल नहीं है। मिश्रबंधुओं ने चार ठाकुर कवियों का होना लिखा है, किंतु उनमें से असनीवाले ऋषिनाथ के पुत्र का ही वर्णन किया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी और स्व० बा० श्यामसुंदर दास ने भी इसी ठाकुर की ओर ध्यान दिया है। नवीन कवि ने अपने 'प्रबोध रससुधासर' में तीन ठाकुर कवियों की चर्चा की है जिन्हें उन्होंने क्रमशः (१) 'ठाकुर प्राचीन मसलबंद' (२) 'ठाकुरदास ब्राह्मण झाँसी वारे' तथा (३) 'ठाकुर लाला वृन्दावन वासी' बतलाया है[१] जिससे इस प्रश्न पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता। ठाकुर शिवसिंह, डा० ग्रियर्सन तथा अन्य ऐसे इतिहासकारों ने भी इसे हल करने में सफलता नहीं पाई है। लोगों का ध्यान अधिकतर उपर्युक्त असनी-वाले ठाकुर की ओर ही गया है और, विहारी सतसई के टीकाकार होनेसे, उनकी प्रसिद्धि भी सबसे अधिक रही है। पं० अम्बिकादत्तव्यास ने भी अपने 'विहारी विहार' ग्रंथ में इन्हीं का वर्णन विशेषरूप से किया है। स्व० लालाभगवानदीन ने अपने संपादित 'ठाकुर ठसक' के आरंभ में इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है और स्व० आचार्य शुक्ल जी ने उनके मत को स्वीकार करते हुए अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उसे एक प्रकार से उद्धृत सा कर दिया है। फिर भी 'याज्ञिक त्रय' के अनुसार "लाला जी अपनी जाँच में सफल नहीं हुए" हैं[२] और इसके लिए अन्य प्रयत्न भी अपेक्षित हैं।

१. 'साहित्य समालोचक' (भा० ३), पृ० ४७।

२. वही, पृ० ५२।

जहाँ तक पता है, अभीतक 'ठाकुर' उपनाम के साथ लिखी गई सभी कविताएँ उपलब्ध नहीं हैं और न प्रकाशित हो पाई हैं। किसी ठाकुर कवि का कोई प्रबंध काव्य वा काव्य संग्रह भी अभीतक ऐसा नहीं मिला जिससे इस विषय में सहायता ली जा सके। ऋषिनाथ-पुत्र ठाकुर की लिखी हुई जो 'विहारी सतसई' की टीका मिलती है वह भी स्वतंत्र ग्रंथ न होने के कारण उपयोगी नहीं है। दो भिन्न-भिन्न कवियों की तुलना लिए उनकी भाषा, भावाभिव्यक्ति की शैली एवं विचारधारा की परीक्षा करना आवश्यक है जो उनकी मौलिक रचनाओं के आधार पर ही समुचित रूप में किया जा सकता है। टीकाकार की भाषा अपनी हो सकती है, वर्णनशैली में भी वह बहुत कुछ स्वतंत्र रहा करता है, किंतु विचारधारा के लिए वह सदा परतंत्र है। तीनों बातें अपने शुद्धरूप में केवल मौलिक रचनाओं में ही मिल सकती हैं और तभी उनकी पूरी तुलना भी की जा सकती है। ऋषिनाथ-पुत्र ठाकुर की जितनी रचनाएँ आजतक उनकी प्रमाणिक कृति समझी गई हैं उनसे वे एक विशुद्ध रीतिकालीन कवि जान पड़ते हैं और वे अपने समय के साहित्यिक बंधनों से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं कहे जा सकते। स्व० लाला जी ने इनकी कुछ पंक्तियों के साथ तुलना के लिए किसी 'प्राचीन ठाकुर असनी वाले की कविता' भी उद्धृत की है। परंतु दोनों उदाहरणों में कोई विशेष अंतर नहीं जान पड़ता और न कोई ऐसी बात लक्षित होती है जिसके अनुसार उनका समर्थन किया जा सके। रीतिकालीन रूढ़ियों से यथासाध्य उदासीन रहकर चलने वाले प्रेमी कवि ठाकुर की रचनाएँ उनसे बहुत कुछ भिन्न हैं।

प्रेमी कवि ठाकुर का पूरा नाम ठाकुरदास था और वे कायस्थ जाति के थे। उनके पिता का नाम गुलाबराय था जो खड़गराय के पुत्र थे। ठाकुरदास का जन्म उनके ननिहाल ओरछा में सं० १८२३ के किसी मास में हुआ था और वहीं पर उन्हें प्रारंभिक शिक्षा भी मिली थी। उनके पूर्वज कदाचित् काकोरी (जि० लखनऊ) की ओर से आये

थे, किंतु ठाकुरदास पर अपने जन्म-प्रदेश बुंदेलखंड का ही अधिक प्रभाव पड़ा। वे कुछ बड़े होने पर अपनी मातृभाषा में ही कविता का अभ्यास करने लगे। फिर किसी कारणवश वे जैतपुर चले आए जहाँ के तात्कालीन राजा केशरी सिंह ने उनकी काव्यरचना से प्रसन्न होकर उन्हें अपना दर्बारी कवि बना लिया। जैतपुर से वे कभी-कभी विजावर भी चले जाया करते थे जहाँ पर उनके अन्य सजातीयों का निवास था। वहाँ के राजा का भी नाम केशरीसिंह ही था और वे भी इन्हें जैतपुर वाले की भाँति सम्मानित करते थे। दोनों राजाओं ने इन्हें कुछ गाँव दिये थे। जैतपुर के केशरी सिंह का देहांत हो जाने पर ये कुछ समय तक विजावर में ही रहे। परंतु स्वर्गीय राजा के पुत्र पारीक्षत के राज्यकाल में ये फिर जैतपुर लौट आए और उनके साथ रहकर इनकी सबसे अधिक प्रसिद्धि हुई। इनका आदर-सम्मान आसपास के अन्य राजा एवं रईस भी किया करते थे जिससे इनकी ख्याति अन्य प्रदेशों तक में फैल गई थी। इनका देहांत लगभग सं० १८८० के हुआ और इनके पुत्र दरियाव सिंह 'चातुर' तथा पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे।[1]

स्व० लालाजी ने इस ठाकुर कवि का एक वंशवृक्ष दिया है और इनकी वेशभूषा की भी कल्पना की है। इनके जन्मस्थान तक जाकर उन्होंने इनके विषय में पूरी जाँच-पड़ताल की थी और इनके स्वभाव तथा रहन-सहन का भी पता लगाया था। इस संबंध में उन्होंने कुछ प्रासंगिक कथाओं का भी उल्लेख किया है जिनसे इस कवि के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक ऐसी ही कथा के अनुसार ठाकुर कवि विजावर में रहने वाली किसी परम सुंदरी सुनारिन के सौंदर्य पर मोहित हो गए थे। ये जब कभी उसे देख लेते उसे हाथ जोड़कर प्रणाम करते और कोई न कोई कविता भी उसे सुना देते। धीरे-धीरे वह भी इनकी ओर कुछ आकृष्ट होने लगी जिससे बिगड़कर उसके घर वालों ने

---

१. 'ठाकुर ठसक' (जीवनी, पृ० ५-२३)।

विजावर नरेश के यहाँ इनकी निंदा कर दी। महाराज के पूछने पर इन्होंने अपनी सौंदर्योपासना का रहस्य प्रकट कर दिया जिस कारण, इन्हें दंडस्वरूप सात दिनों तक नज़रबंद रहना पड़ा। कहते हैं कि इस कवि के कष्टों के कारण उस कुएं का जल सूख गया जहाँ पर उक्त सुनारिन बहुधा पानी भरा करती थी और क्रमशः अन्य भी कुएँ उसी प्रकार सूखने लगे जिससे प्रभावित होकर महाराज को इन्हें छोड़ देना पड़ा। फिर सभी कुएँ जल से पूर्ववत् पूर्ण हो गए। ठाकुर कवि ने उसी समय से विजावर का परित्याग सदा के लिए कर दिया और इसकी स्मृति में सुनारिन ने भी श्रृंगार धारण करना छोड़ दिया। कहते हैं कि जिस समय ये विजावर में रहा करते थे उस समय अपनी प्रेम-पात्री के दो चार दिनों तक रुग्ण हो जाने के कारण इन्हें उसके दर्शन नहीं हो-पाए थे। पाँचवें दिन रात्रि के समय जब इनसे उसका वियोग सह्य नहीं हुआ तो ये उसके मकान की गली में घूम-घूमकर कालक्षेप करते रहे और इन्होंने अंत में, इस सवैये की भी चना की—

गति मेरी यही निसबासर है, चित तेरी गलीन के गाहने हैं,
चित कीन्हों कठोर कहा इतनो, अब तोहि नहीं यह चाहने है।
कवि ठाकुर नेकु नहीं दरसी, कपटीन को काह सराहने है,
मन भावै सुजान सोई करियो, हमैं नेह को नातो निबाहने है॥[1]

ठाकुर कवि की यही मनोवृत्ति उनकी विशेषता जान पड़ती है और इसी का किसी न किसी रूप में व्यक्तीकरण उन्होंने सर्वत्र किया है।

२

स्व० लालाजी ने अन्य ठाकुर कवियों के साथ इनकी भिन्नता प्रकट करने के लिए कुछ अन्य आधार भी स्वीकृत किये हैं। उनका कहना है

१. ठाकुर सठक (जीवनी, पृ० १५)।
२. वही, पृ० २।

"जैतपुरी ठाकुर की कविता में बहुधा कोई न कोई लोकोक्ति अवश्य पाई जाती है और उनकी भाषा में ऐसे-ऐसे बुंदेलखंडी शब्द और मुहावरे पाये जाते हैं कि अन्य देशीय कवि बिना कठिनता के उनका प्रयोग नहीं कर सकते।"[1] परंतु लालाजी 'ठाकुर ठसक' वाला अपना संग्रह प्रस्तुत करते समय इन बातों को स्वयं सदा ध्यान में नहीं रख सके हैं। उन्होंने यहाँतक असावधानी दिखलाई है कि जिन पद्यों को उन्होंने अपने उस संग्रह के प्रारंभ में 'प्राचीन ठाकुर असनी वाले' अथवा 'असनी वाले दूसरे ठाकुर' की कविता कहकर उद्धृत किया है उन्हें ही फिर उसके भीतर भी स्थान दे दिया है। उदाहरण के लिए प्रारंभिक भाग के पृष्ठ ३ में जो सवैये (३ और ५ की संख्या वाले) उक्त प्राचीन ठाकुर के कहे गए हैं वे ही मूल भाग के क्रमशः २७ एवं २१ संख्यक पृष्ठों पर जैतपुरी ठाकुर कवि की रचनाओं के रूप में संगृहीत कर लिए गए हैं। उसी प्रकार उसके पृष्ठ ४ पर जो ४ और ५ संख्या वाले सवैये असनी वाले दूसरे ठाकुर के बतलाये गए हैं वे ही फिर आगे क्रमशः २४ वें और २६ वें पृष्ठों पर दे दिये गए हैं। वास्तव में जैतपुरी ठाकुर कवि की विशेषता उनकी भाषा एवं शैली मात्र में ही न होकर उनकी उस प्रेमरसार्द्रित विचारधारा में भी सन्निहित है जिस कारण वे अपने समकालीन कवियों से नितांत भिन्न से प्रतीत होते हैं। उनके जीवन-काल अथवा उसके कुछ पहले और पीछे तक के शृंगारी कवि जहाँ नायिकाभेद, नख-शिख, अलंकार एवं षट् ऋतु आदि विषयक परंपरागत बातों को ही उदाहृत करने में लगे रह जाते हैं वहाँ ये अपनी व्यक्तिगत प्रेमानुभूतियों को भी व्यक्त करते हैं और इनकी यह प्रवृत्ति इन्हें अन्य रीतिकालीन कवियों से पृथक् कर देती है। ऐसी दशा में ये आलम, घनानंद और बोधा जैसे प्रेमी कवियों की श्रेणी में आ जाते हैं जिनकी स्वच्छंद वृत्ति इनके समय तक अवश्य प्रसिद्ध हो चुकी होगी।

---

१. वही, पृष्ठ २।

ठाकुर कवि के प्रेम का आदर्श उसके शुद्ध, निःस्वार्थ और एकांत-निष्ठ होने में है जो अंततक एक भाव रहा करता है। वे स्पष्ट कहते हैं,

एकही सों चित चाहियें ओर लों, बीच दगा कौ परै नहिं डांकौ।
मानिक सो मन बेंचिके मोहन, फेर कहा परखाइबो ताकौ॥
ठाकुर काम न या सबकौ, अब लाखन में परवा नहै जाकौ।
प्रीति करै मैं लगै है कहा, करिकै इन ओर निबाहिबो बांकौ॥[१]

अर्थात् सच्चे प्रेम की पहचान यह है कि उसमें प्रेमी का चित्त अंततक एक ही को चाहता है, बीच में कभी धोखे का भय नहीं रहता। जब अपने माणिकरूपी मन को एकबार दे डाला तो उसे फिर परखाने का अवसर क्यों आने दें। ऐसा करना साधारण बात नहीं है, यह लाखों में से कोई एक कर सकता है। प्रीति का करना उतना कठिन नहीं जितना उसे करके एक ओर निबाह ले जाना दुःसाध्य है। कारण यह है कि प्रेमपात्र सदा अपने प्रेमी के प्रति उसके अनुकूल मनोभाव व्यक्त नहीं किया करते और न वैसा आचरण ही करते हैं जिससे अनुरागी चित्त के लिए कभी-कभी धर्मसंकट की वेला आ उपस्थित होजाती है और उसकी दृढ़ता छूटने लगती है। यदि अपने प्रियतम की चेष्टा स्पष्टतः विपरीत जान पड़ी तब तो उसकी पूरी परीक्षा हो जाती है। किंतु ठाकुर कवि का कहना है—

अरे लाल सनेही सनेह तजौ, सजौ वैर तऊ सुधि लीजतु है।
हम आनन आन निहारोई ना, जपि नाम तिहारोई जीजतु है॥
कवि ठाकुर भूल कछू अपनी, तिहि तै तुम्हें दोष न दीजतु है।
चित आनकी आन कही चहै पै, हित जान अई गई कीजतु है॥[२]

१. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ ६, पद्य १८।
२. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ १८, पद्य ७३।

अर्थात् यदि तुम मुझसे स्नेह भाव न रखो, अपितु शत्रुता भी करो फिर भी तुम्हें भूलना नहीं है। मैंने सिवाय तेरे किसी और का मुख ही नहीं देखा और न तेरे सिवाय किसी अन्य का नाम लिया। यह मेरी भूल हो सकती है, किंतु इसके लिए मैं तुम्हें दोष नहीं देता। चित्त कभी-कभी धोखे में आकर 'आन की आन' भले ही कहना चाहे; किंतु मैं तो तेरे यहाँ का आना-जाना हितकारक ही मानता हूँ। मुझपर ऐसी बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। यही उस गोपीभाव का भी लक्षण है जिसके अनुसार ठाकुर कवि ने किसी गोपी द्वारा उद्धव के प्रति इस प्रकार कहलाया है—

धिक कान जो दूसरी बात सुनैं, अब एक ही रंग रहो मिलि डोरो।
दूसरो नाम कुजात कढ़ै रसना जो कहै तो हलाहल बोरो॥
ठाकुर यों कहतीं ब्रजबाल, सु ह्यां बनितान को भाव है भोरो।
ऊधो जी वे अंखियां जरि जांय जो सांवरो छांड़ि तकै तन गोरो॥[1]

एकबार जब इस प्रकार के प्रेम ने अपने हृदय में घर कर लिया तो अब वह किसी प्रकार भी वहाँ से दूर नहीं किया जा सकता। प्रेमी के भीतर वह जमकर बैठ जाता है और अपने आधार को वह क्रमशः इतना दृढ़ बना देता है कि फिर उस पर कभी किसी प्रकार की बाधाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता और प्रेमी नितांत निर्द्वन्द्व और निर्भीक हो जाता है। ठाकुर कवि ने प्रेमिका ब्रजबालाओं की पारस्परिक बातचीत के बहाने इस भाव का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

घरही घर घैरु करैं घरिहाइनैं, नांव धरैं सब गांवरी री।
तब ढोल दै-दै बदनाम कियो, अब कौन की लाज लजांवरी री॥
कवि ठाकुर नैन सो नैन लगे, अब प्रेम सों क्यों न अघांवरी री।
अब होन दै बीस बिसैरी हंसी, हिरदै बसी मूरति सांवरी री॥

---

1. वही, पृष्ठ ३४, पद्य १३८।

तथा,

जबतैं दरसे मनमोहन जू, तबतै अंखियां ये लगीं सोलगीं।
कुल कानि गई भगि वाही घरी, ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।
कवि ठाकुर नेह के नेजन की, उर मैं अनी आन खगी सो खगी।
अब गांवरे नांवरे कोई धरौ, हम सांवरे रंग रंगी सो रंगी॥[1]

अर्थात् इधर-उधर कलंक भरी बातें कहती फिरने वाली चबाइनें घर-घर जाकर निंदा की चर्चा किया करती हैं। जब सब कहीं मेरे कलंक की ड्योढ़ी पिट ही गई तो फिर अब कौन सी लज्जा को सुरक्षित रखना है। जब उनकी आँखों से मेरी आँख एकबार लग चुकी तो अब यथेष्ट प्रेमरस का पान क्यों न करलूँ। अब लाखों उपहास होते रहें, उस सांवली मूर्त्ति ने मेरे हृदय में अब घर बना लिया है। जब से उस मनमोहन को देखा ये मेरी आँखें उसमें सदा के लिए लग गईं, उसी क्षण लोक लज्जा ने साथ छोड़ दिया और ब्रजराज के प्रेमरस में वे सराबोर हो गईं। प्रेम के भाले की नोक जो एकबार मेरे हृदय में धँस गई वह फिर कभी नहीं निकलने पाई। चाहे कोई मेरी लाख निंदा किया करो। अब मैं उस श्याम रंग में सदा के लिए रँगी जा चुकी हूँ, किसी के वश की बात नहीं जो मुझ पर कोई अन्य रँग चढ़ा दे।

ठाकुर कवि के प्रेमभाव में इतनी दृढ़ता है और इतना कट्टरपन है कि उन्हें प्रेमपात्र की कृतघ्नता वा उदासीनता तक की कुछ भी परवा नहीं और न ऐसी बातों के कारण किसी प्रकार भी हतोत्साह होकर, वे अपनी टेक से डिगाना चाहते हैं। प्रेम पात्र कुछ भी करे कैसाहू भाव प्रकट करे वे अपने प्रेम के दृढ़व्रत पर अचल बने रहना चाहते हैं और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

का करिये तुम्हरे मन को, जिनको अबलौं न मिटो दगा दीबो।
पै हम दूसरो रूप न देखिहैं, आनन आन को नाम न लीबो॥

---

१. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ १२, पद्य ४२-३।

ठाकुर एक सो भाव है जौ लगि, तौ लगि देह धरे जग जीवो ।
प्यारे, सनेह निबाहिबे को हम, तो अपनो सो कियो अरु कीबो ॥[१]

अर्थात् तुम्हारे मन पर मेरा कोई वश नहीं है, वह तो अभीतक पूर्ववत् ही कपट का व्यवहार करने पर तत्पर है। हाँ, मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि मैं न तो और किसी को अपनी आँखों से देख सकता हूँ और न इस मुख से कोई अन्य नाम ही ले सकता हूँ। जबतक यह भाव बना हुआ है तभीतक मैं जीता हूँ। स्नेह निर्वाह का कार्य आजतक मैंने अपने स्वभाव के अनुसार ही किया है और फिर आगे भी उसी प्रकार करता चलूँगा। वे अपने प्रेमपात्र की ओर से प्रदर्शित की जाने वाली किसी भी प्रत्यर्थिता के लिए उत्सुक नहीं रहते, केवल अपना कर्त्तव्यमात्र पालन करना ही पर्याप्त समझते हैं। इसलिए उन्हें संतोष केवल इस बात में भी मिल जाता है कि उनकी प्रेमपात्री को उसके निमित्त किये गए उनके प्रयत्नों का कुछ पतामात्र चल गया होगा, जैसे—

वा निरमोहिन रूप की रासि, जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहूँ बार बिलोकि घरी-घरी सूरत तो पहिचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मनकी परतीत है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है॥[२]

अर्थात् वह सुंदरी, कठोर हृदय होने के कारण, यदि मेरे लिए कुछ प्रेम न रखती होगी तो मुझे बारंबार अपने यहाँ आता देखकर मेरे चेहरे को तो कुछ न कुछ पहचान ही गई होगी। मुझे इस बात का विश्वास है कि मेरे प्रति उसका प्रेमभाव नहीं है फिरभी वह इतना अवश्य जानती होगी कि यह व्यक्ति मेरे लिए ही आया जाया करता है। ठाकुर

१. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ १३, पद्य ४६।
२. वही, पृष्ठ १२, पद्य ४५।

को केवल इतने में भी संतोष है । इसका कारण कदाचित् यह है कि इन्हें सच्चे प्रेम की अंतिम सफलता में पूर्ण विश्वास है। वे कहते हैं,

दिल सांचो लगै जेहिको जेहिसों, तेहिको तिनही पहुंचावत है।
वलि हंस चुनै मुकताहल कों, अरु चातक स्वाति को पावत है ॥
कवि ठाकुर यों निज भेद सुनो, अरुझावत सो सुरझावत है।
परमेसुर की परतीत यही, मिल्यो चाहत ताहि मिलावत है ॥[1]

अर्थात् सच्चा प्रेमी सफल होकर ही रहता है और यह परमेश्वर का अटल नियम है।

२

ठाकुर कवि ने विरह भाव को व्यक्त करने वाले भी कई पद्य लिखे हैं, किंतु उनमें कोई वैसी विशेषता नहीं है। इनका स्वभाव किसी के साथ छेड़-छाड़ करने का नहीं और न किसी का दिल दुखाने का ही है। ये सब को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार स्वतंत्र रूप से जीवन व्यतीत करने देना चाहते हैं और किसी के मार्ग में कोई अड़ंगा डालना पसंद नहीं करते। इनका ऐसा नियम केवल मानव समाज तक ही सीमित नहीं है, उसका प्रयोग ये क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणियों के संबंध में भी करना चाहते हैं, जैसे—

दसबार बीसबार बरज दई है याहि,
एते पै न मानै जो तौ जरन बरन देव ।
कैसौ कहा कीजै कछू आपनो करौ न होइ,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव ।
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निरसङ्क रस रङ्ग बिहरन देव ।

---

१. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ ५४, पद्य १४।

बिधि के बनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहां,
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव ॥[1]

अर्थात् इस महान् जगत् के अंतर्गत जितने भी प्राणी निवास करते हैं वे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार चलते हैं। यदि तुम्हारी दृष्टि में उनकी कोई बात जँचती नहीं तो तुम्हें अधिक से अधिक उन्हें केवल बरज देना भर ही चाहिए। उन्हें अपने-अपने कार्यों से पूर्णतः विरत कर देने के लिए चेष्टा करने लगाना उचित नहीं। ठाकुर कवि कहते हैं कि हमें अपना मन मगन रखना चाहिए और उन्हें भी अपनी-अपनी मौज के अनुसार व्यवहार करने के लिए छोड़ देना चाहिए। ठाकुर कवि का यह निरपेक्षभाव उन लोगों की दृष्टि में खटकने वाली बात होगी जो इस सारी सृष्टि का नियंत्रण करना अपना स्वाभाविक धर्म समझा करते हैं और कभी-कभी अपने निश्चय की प्रेरणा से कृत्रिम क्रांतियों का झंडा उठा लेते हैं। ठाकुर कवि सच्चे और स्वाभाविक अधिकारों के प्रबल समर्थक हैं और उनकी उपर्युक्त धारणा उनकी विशाल हृदयता पर आश्रित है। वे किसी के भी द्वारा किसी पर आघात सहन नहीं करते। जिसके प्रेम में पड़कर वे उसके ऊपर अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं उसे भी वे अपने प्रति उत्तरदायी बनाना नहीं चाहते। उन्हें न वणिग्व्यापार पसंद है और न वे किसी पर शासनाधिकार ही जमाना चाहते हैं। उनका हृदय निःस्वार्थभाव से पूर्ण है और वे सबको एक समान 'मगन' देखने को उत्सुक हैं।

ठाकुर कवि की रचनाओं के दो संग्रह अभीतक प्रकाशित पाये जाते हैं जिनमें से एक 'ठाकुर शतक' है और दूसरा 'ठाकुर ठसक'। 'ठाकुर शतक' आज से लगभग ५० वर्ष पहले 'भारत जीवन प्रेस काशी' से प्रकाशित हुआ था और उसमें १०७ पद्य संगृहीत हैं। 'ठाकुर-ठसक' उसके २२ वर्ष पीछे 'साहित्य सेवक कार्यालय, काशी' से

---

१. 'ठाकुर ठसक', पृष्ठ ७, पद्य २४।

निकला था और उसमें ठाकुर के ११२ पद्य सम्मिलित हैं। पहले संग्रह के विषय में ऐसा कोई दावा नहीं किया गया था कि इस में अमुक ठाकुर की ही रचनाओं का संकलन किया गया है। किंतु दूसरे संग्रह के संपादक स्वयं लाला भगवानदीन ने उक्त प्रथम संग्रह को 'बहुत अशुद्ध' ठहराकर नवीन प्रयत्न किये हैं। उन्होंने अपने संपादित संस्करण के पद्यों की प्रामाणिकता का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं ठहराया है जिस कारण उसमें संगृहीत अनेक पद्यों के जैतपुरी प्रेमी ठाकुर कवि कृत होने में संदेह बना रह जाता है। स्व० लाला जी ने जिन भाषा एवं शैली विषयक इनकी विशेषताओं की ओर संकेत किया है वे प्रर्याप्त नहीं जान पड़ते ।. उनका यह कहना कहीं अधिक समीचीन समझ पड़ता है कि यह कवि रीतिकालीन परंपराओं से अपने को मुक्त रखना चाहता था। परन्तु उसके ऐसा करने के प्रधान कारण की ओर उन्होंने अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट नहीं किया है।

ठाकुर कवि की प्रमुख विशेषता उनकी उस मनोवृत्ति में निहित है जो उनके विशुद्ध प्रेमी होने के कारण उनके जीवन का मूल आधार बन गई है और जो उन्हें प्रत्येक पंक्ति के लिखते समय उन्हें अनुप्राणित करती रहती है। यही उनसे कभी-कभी अपनी व्यक्तिगत बातें कहला देती है और अन्यत्र एक विशेष ढंग की पंक्तियाँ भी लिखाती हैं। प्रेम और शृङ्गार की उक्तियाँ अनेक हिंदी कवियों की रचनाओं में मिलती हैं, किंतु उनके स्वरूप एक समान नहीं होते। ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रेम का वर्णन करने वाला कवि जहाँ अधिकतर अपनी जानकारी अथवा मस्तिष्क से काम लेता है वहाँ एक शुद्ध प्रेमी कवि अपनी अनुभूति अथवा हृदय का भी उपयोग करता है और इसी कारण उसकी कृति में कोई न कोई नवीनता सी आ जाती है। उसकी रचना के पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसके द्वारा कुछ अपनी अथवा 'आपबीती' भी सुनाना चाहता है। ठाकुर कवि जैतपुरी

भी एक इसी कोटि के कवि हैं। इनकी रचनाओं की परख इस बात को स्मरण रखते हुये ही करनी चाहिये। इनकी कविता नीति, श्रृङ्गार एवं भक्ति के अनुसार तीन प्रकार की दीख पड़ती है, किंतु तीनों पर उपर्युक्त रंग की छाप लगी हुई है। उदाहरण के लिए नीचे इस कवि का एक कवित्त दिया जा रहा है जिसमें उसने भगवान् से अपने लिये कुछ प्रार्थना की है—

दौलत जो दीजौ तौ न दीजौ कछु सोच फिर,
एतौ बर दीजौ मेरो जनम सुधारियो।
सङ्ग परबीनन को दीनन पै दाया नित,
प्रेम मैं मगन ऐसे दिन जु निबारियो॥
ठाकुर कहत जो अधीन भयौ रावरे तौ,
जासों जैसौ नातो तासों तैसौ ओर पारियो।
ऐहो ब्रजराज तेरे पांइ कर जोरे गहों,
प्रानहूँ नजर पै न नियत बिगारियो॥६॥[1]

अर्थात् हे भगवन् यदि मुझे धन देना तो उसके लिए फिर किसी प्रकार की चिंता न देना; इतना करना कि मेरा जन्म सुधर जाय। मुझे प्रवीण जनों के सत्संग का अवसर देना और दीन दुखियों का उपकार करने की ओर भी प्रवृत्त करते रहना। ऐसा करना जिसमें जीवन प्रेम की मस्ती में ही व्यतीत हो जाय। जब आप ही के शासन में मुझे रहना है तो फिर ऐसा भी कीजिएगा कि जिस किसीके साथ मेरा जैसा संबंध हो वह उसके साथ अंत तक निभ जाय। हां, सबसे बड़ा बरदान जो आप से पैरों पर गिरकर माँग रहा हूँ वह यह है कि प्राण-संकट के समय भी मेरी 'नीयत' में किसी प्रकार का परिवर्तन न आने पावे जिससे किसी अनर्थ की संभावना हो जाय।

---

१. 'ठाकुर ठसक' पृष्ठ ४।

भारतेन्दु-काल की हिन्दी कविता में जातीयता

जातीयता के भावों के उदाहरण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पहले की हिन्दी कविता में भी किसी न किसी रूप में देखने को मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध चारण-युग में जब चंद, जगनिक, नरपति-नाल्ह आदि कवि रचना कर रहे थे, हिन्दी भाषा-भाषी जातियों में अपने वंश, कुटुंब अथवा परिवार की मर्यादा का ध्यान विशेषरूप से रहा करता था। इस कारण जब कभी व्यक्तिगत द्वेष अथवा महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर एक वंश के वीर दूसरे वंश के वीरों के साथ युद्ध ठान देते थे और रणक्षेत्र में सिपाहियों को उत्साहित करते रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तो उस समय के भाट और कवि अपनी जाति के पूर्वजों के गौरव, अपने देश की पवित्रता, अपनी स्त्रियों की मान-मर्यादा और इन सबकी रक्षा के लिए आत्म त्याग की उपयोगिता पर अनेक पद रचा करते थे। उस समय के लिखे गए रासो आदि ग्रंथों में भी जातीयता के भावों से भरे हुए अनेक पद्य देखने में आते हैं—

फेरि न जननी जनमिहैं, फेरि न तीर कमान ;
सात बार तुम चूक के, अब न चूक चौहान।

अथवा,

बीस बरस लौं छत्री जीवैं,
आगे जीवन को धिरकार।

उपर्युक्त पद्यों में यद्यपि संकेत एक क्षत्रिय अथवा उससे भी परिमित सीमा के अंदर चौहान वंश विशेष की ओर किया गया है, तथापि इस दृष्टि से कि उस समय जातीयता के भाव इतने विस्तृत और पूर्ण नहीं थे जितने कि आजकल हैं, उनमें जातियता के भाव बहुत बड़े अंशों में विद्यमान कहे जा सकते हैं। कवि की भावना अधिकतर अपनी जाति

की भावनाओं का ही अनुसरण किया करती है और आनुवंशिक धारणा की अवहेलना करना विरले व्यक्तियों का ही काम है। अतएव, उपर्युक्त पंक्तियों के भाव क्षत्रियत्व तथा चौहानपन मात्र का ही आदर्श रखने के कारण उस समय के लिए जातीयता से रहित नहीं कहे जा सकते।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के मध्य-काल अर्थात् धर्मयुग की कविता के विषय में भी कह सकते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि इस समय वे भाव कुछ और भी विस्तृत हो चले थे। मुसलमानों ने इस समय तक अपना अड्डा जमा लिया था। अब उनका प्रभाव—जो विरुद्ध होने के कारण भारतवासी हिन्दुओं के लिए असह्य सा जान पड़ता था—देश के प्रत्येक खण्ड पर क्रमशः पड़ता जा रहा था और उसकी बाढ़ रोकने के लिए कई प्रांतों के लोग उद्यत होने लगे थे। ऐसी दशा में, एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ संघर्ष होने के कारण, आपस में लड़ने वाले कुलाभिमानियों को भी एकता के सूत्र में बाँधने का एकमात्र उपाय हिन्दुत्व की रक्षा बन गई। कविश्रेष्ठ भूषण की कविताएँ इसी समय की रची हुई हैं। इस कारण, यद्यपि इनमें 'साहितनै सिरजा' अथवा 'भौंसला भूपाल' की चर्चा सब कहीं दीख पड़ती है, तथापि इनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुत्व की रक्षा तथा विधर्मियों का विनाशमात्र ही है। शिवाजी अथवा छत्रसाल जैसे आश्रय- दाताओं की प्रशंसा इस वीर पूजक तथा स्वधर्म्माभिमानी कवि ने उनके इसी ध्येय के पालन में समर्थ होने के कारण की है। उसे इस बात में पूर्ण विश्वास था—

"शिवाजी न होतो तौ सुनति होती सबकी।"[1]

कुलाभिमान का स्थान धर्माभिमान ने ले लिया और जातीयता इस समय सामाजिकमात्र रहने के बजाय धार्मिक हो गई। परन्तु उस

---

१. 'भूषणग्रंथावली' (साहित्यसेवक कार्यालय, काशी), पृष्ठ ६३-४।

समय के लिए यह जातीयतापूर्ण थी और लगभग उसीरूप में वह भारतेन्दु के समय तक चली आई।

भारतेन्दु का उदय ईस्वी सन् १८५० में हुआ था और अस्त ईस्वी सन् १८८५ में हुए। उनका साहित्यिक जीवन इसी समय के अंतिम बीस वर्षों में समाप्त हुआ। ये ही बीस वर्ष एवं उन्नीसवीं शताब्दि के शेष दिनों का अधिकांश भारतेन्दु-काल के नाम से पुकारा जा सकता है। यह वह समय है, जब अँगरेजों के शासन के प्रभाव स्पष्ट होने लग गए थे। जब अंगेरजी-साहित्य का प्रचार क्रमशः बढ़ता जा रहा था। जब योरप के विभिन्न प्रदेशों में अनेक विद्याव्यसनी विद्वानों ने संस्कृत भाषा के अध्ययन तथा अनुशीलन आरंभ कर दिया था। जब थियोसोफिकल सोसायटी आदि कई समितियों ने भारतीय संस्थाओं तथा भावनाओं को समझने तथा समझाने का प्रयत्न करना अपने कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया था। जब अनेक भारतीयों ने बाहर के देशों में जा-जाकर वहाँ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब अनवरत अध्ययन एवं तुलनादि के प्रयत्नों से प्रेरित होकर रेल, तार, प्रेस आदि साधनों के प्रभाव से पारस्परिक संपर्क में अधिकाधिक वृद्धि होती रहने के कारण, भारतवासी अपने हृदयों में एक नवीन जागृति का अनुभव करने लग गए थे। तब प्रांतिय भाषाओं तथा उनके सहित्यों पर इन उपर्युक्त बातों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और ऐसा ही हुआ। वर्तमान हिन्दी कविता का आरंभ इसी समय से होता है और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही वास्तव में, इसका सूत्रपात करने वाले हैं।

भारतेन्दु एक सच्चे प्रेमी तथा भक्त कवि थे। अतएव, नए युग के प्रकाश में अपने देश की हीनावस्था को देखकर उनके हृदय का उद्वेलित हो उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। जातीयता से संबंध रखने वाली उनकी सभी रचनाएँ अधिकतर ऐसे ही भावों से प्रेरित होने पर आविर्भूत हुई हैं। भारतवर्ष की दुरवस्था का दिग्दर्शन कराने के लिए

उन्होंने 'भारत जननी तथा भारत दुर्दशा' नाम के दो रूपक लिखे हैं। भारत जननी के आरंभ में ही सूत्रधार कहता है—

"भारत भूमि और भारत-संतान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत जननी' की इति कर्त्तव्यता है, और आज जो यह आर्यवंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है, उसमें से एक भी यदि इस भारतभूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल हो।"

भारत माता को इसमें आरंभ से ही मैली साड़ी पहने बाल खोले निद्रित सी बैठी हुई दिखलाया है, भारत संतान उसके इधर-उधर सो रहे हैं। भारत-सरस्वती, भारत-दुर्गा तथा भारत-लक्ष्मी उसे जगाकर सचेत करने के लिए क्रमशः आती हैं, और उसके न सुनने पर वैराग्य के कारण रोती हुई चली जाती हैं। लक्ष्मी के चले जाने पर भारत माता का आलस्य कुछ दूर होता है और सोए हुए बच्चों को जगाकर "दुखिया माता का घोर दुःख से उद्धार करने" के लिए उद्योगशील बनाना चाहती हैं। किंतु पहले तो वे उठ-उठकर भी सोने लगते हैं, और फिर किसी प्रकार निद्रा-भंग होने पर भी, कभी खाने को माँगते है, कभी अपनी निष्क्रियता तथा आलस्य को कोसते हैं। कभी-कभी महारानी विक्टोरिया से "कृपा कटाक्ष-निक्षेपण" करने की पुकार-पुकारकर प्रार्थना करते हैं। तत्पश्चात् एक साहब आकर उन्हें डाँटने लगता है। परंतु दूसरा साहब उसे आकर निकाल देता है, और इसीके द्वारा उनको कुछ आश्वासन मिलता है, जिसके उपरांत धैर्य से भेंट होती है। अंत में भारत जननी अपने बच्चे को उपदेशों द्वारा उत्साहित करने की चेष्टा करती है और स्वयं ईश्वर से प्रार्थना करने लगती है।

इस प्रकार भारत जननी में सिवा दुःख रोने तथा अपनी निःसहायता दिखलाने के और कुछ भी नहीं। कवि ने कहीं-कहीं अपने पूर्व-गौरव का भी निदर्शन कराया है; किन्तु उससे कुछ भी उत्साह नहीं दिलाया। सारा अवलंब उसे महारानी विक्टोरिया, सूखी समवेदना प्रकट करने वाले कतिपय अँगरेज़ तथा भगवान् की दयामात्र का ही है।

भारत की दुरवस्था का कवि एक प्रकार से दूर ही से अनुभव करता है और देश की मानसिक स्थिति के पूर्णरूप से विकसित न हो चुके रहने के कारण अभी वह दुर्बलतामात्र दिखलाने में ही समर्थ है। भारत दुर्दशा नामक रूपक के आरंभ में कवि ने एक योगी द्वारा जो लावनी गवाई है, उससे भी यही भाव प्रकट होता है, जैसे—

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत-भाई;
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन, बल दीनो;
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस-भीनो;
सबके पहिले विद्या-फल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई;
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।

× × ×

अब जहं देखहु तहँ दुःखहि दुःख लखाई;
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।[1]

आगे चलकर एक स्थान पर कवि ने भारत से कहलाया है—

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ;
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा-हा होय अनाथ।
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोइ दुख-गाथ;
दीन बन्यौ इत सों उत डोलत, टकरावत निज माथ।
दिन-दिन बिपति बढ़त, सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ;
सब बिधि दुःख-सागर में डूबत, धाइ उबारौ नाथ।[2]

---

१. 'भारतेंदु नाटकावली' (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ ५९७-८।
२. वही, पृष्ठ ६००।

किंतु 'भारत जननी' तथा 'भारत दुर्दशा'-नामक रूपकों में थोड़ा-सा अंतर भी है। 'भारत दुर्दशा' की घटना इस प्रकार है—योगी के गा चुकने पर भारत आता है और अपने प्राचीन गौरव का स्मरण करता हुआ अपनी वर्तमान विवशता पर वह बहुत दुःख प्रकट करता है। उसे अंग्रेजों से भी विशेष आशा नहीं। दुर्दैव से भय खाकर वह पहले निर्लज्जता और फिर आशा से कुछ सांत्वना पाता है। किंतु दुर्दैव आखिर दुर्दैव ही ठहरा। सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि उसे सहायता पहुँचाते हैं। वह भारत को और भी पीड़ित करके एकदम अचेत कर देता है। फिर उसे सचेत कराने की चेष्टा में कुछ भारतीय—बंगाली, महाराष्ट्र, एडिटर तथा दो देशी महाशय मिलकर एक सभापति के सभापतित्व में विचार भी करने लगते हैं, तो अराजभक्ति का भय उन्हें ऐसा करने नहीं देता। अंत में भारत-भाग्य को अपने अधःपतन का अनुभव करते हुए यहाँतक कह देना पड़ता है—

तुममें जल नहिं जमुना गंगा,
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा।
धोवहु यह कलंक की रासी,
बोरहु किन झट मथुरा कासी।
कुरु कन्नौज अंग अरु बंगहि,
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि।
बोरहु भारत भूमि सबेरे,
मिटै करक जिय कै तब मेरे।
अहो भयानक भ्राता सागर,
तुम तरंग निधि अतिबल आगर।
बोरे बहुगिरि बन अस्थाना,
पै बिसरे भारत हित जाना।
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई,
देहु भरत-भुव तुरत डुबाई।

घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय;
करहु सकल जल भीतर तुम लय।

फिर वह अपने मित्र भारत को उठाने की अनेक चेष्टाओं को निष्फल जाती हुई देख अपनी छाती में कटार मारकर गिर पड़ता है। इस प्रकार 'भारत दुर्दशा' में देश की दुरवस्था के कारणस्वरूप दुर्दैव, आलस्य आदि को भी दिखला दिया है। कतिपय भारतीयों द्वारा सुधार के लिए थोड़ी सी चेष्टा भी करा दी है। किंतु इसका अंत 'भारत जननी' के अंत से अधिक भयानक है। 'भारत-जननी' में भारतमाता धैर्य को सहायक पाकर ईश्वर से प्रार्थना करती तथा अपने पुत्रों को उत्साह प्रदान करने के प्रयत्न करती है, तो 'भारत दुर्दशा' में हम भारत को एकदम गाढ़ी नींद में पड़ा हुआ पाते हैं और देखते हैं कि भारत भाग्य के लाख जगाने पर भी उसकी निद्रा भंग नहीं होती। अंत में स्वयं भारत-भाग्य को भी आत्म हत्या कर लेनी पड़ती है। निराशावादिता की यह अंतिम सीमा है।

भारन्तेदु ने अपनी 'नीलदेवी' नामक ऐतिहासिक रूपक द्वारा हमारी 'गृह देवता' अर्थात् स्त्रियों की वर्तमान हीनावस्था को सुधारने की लालसा से देश के अतीत गौरव का गान किया है। किंतु वहाँ भी महाराज सूर्यदेव के मूर्छित होकर कैदखाने में पड़ जाने के समय वह देवता द्वारा वह निम्नलिखित कहानी कहलाते हैं—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यही नासा,
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा।
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै,
सो दिन फिर इत अब सपनेहू नहि ऐहै।
स्वाधीनपनो, वल, धीरज सबहिं नसैहै,
मंगलमय भारत-भुव मसान ह्वै जैहै।

दुख-ही-दुख करिहै चारिहु ओर प्रकासा,
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा।[१]

आगे चलकर मियाँ-रूपधारी एक चर उदास स्वर में गाता है—

कहाँ करुना-निधि केसव सोए;
जागत नेकु न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए।[२]

इसके सिवा कवि द्वारा प्रदर्शित जातीयता के भाव इन तीनों रूपकों से लगभग धर्म-युग की ही भाँति बहुत कुछ संकुचित भी हैं। कवि-दृष्टि में देश की भौगोलिक एकता अवश्य आ गई हैं; किंतु हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच एक प्रकार की चौड़ी खाई भी बनी हुई है। धर्म की विभिन्नता के भाव अभी पूर्णरूप से नहीं जा पाए हैं। कवि के समक्ष सदा आर्यमात्र के ही गौरव का आदर्श उपस्थित रहता है। यही नहीं, कवि की रचना का प्रभाव पाठकों अथवा दर्शकों के ऊपर राजनीतिक रूप में न पड़कर केवल नैतिक अथवा सामाजिक रूप में ही अधिकतर पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन दुर्दशाओं का वर्णन किया जाता है वे सब राजनीतिक स्वतंत्रता के अभाव से नहीं, बल्कि दुर्दैव के फेर से हो रही हैं। इसके साथ ही 'नीलदेवी' में किया गया पूर्व गौरव का ज्ञान अभीतक बहुत अंशों में एक पछतावे की मौखिक बड़ाईमात्र है। उसमें देश-भक्ति का वह आकर्षण तथा अनिर्वचनीय अनुराग नहीं।

उपर्युक्त बातें हरिश्चन्द्र द्वारा प्रभावित तथा उनके समकालीन बहुत से अन्य कवियों में भी लगभग इन्हीं रूपों में स्पष्ट देख पड़ती हैं। हरिश्चन्द्र के समकालीन तथा मित्र स्व० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की कविताओं के भी नमूने लीजिए—

---

१. 'भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस, प्रयाग) पृष्ठ ६६१।
२. वही, पृष्ठ ६६६।

भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी,
भारत पर घेरी घटा विपति की कारी।
सब गए बनिज-व्यापार इतै सों भागी,
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी।

अथवा—

पै कछु कहि न जाय दिनन के फेर फिरे अब,
दुरभागिन सों इत फैले फल फूट बैर सब।
भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत,
भए बीरवर सकल सुभट एकहि सँग गारत।

फिर—

कौन भरोसे अब इत रहिए कुमति आय घर घाली,
फूट्यो फूट बैर फलि फैल्यो विधि की कठिन कुचाली।

इन उपर्युक्त पंक्तियों में 'अभागी', 'दिनन के फेर' तथा 'विधि की कठिन कुचाली' इत्यादि का प्रयोग विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। अपने काव्य 'आनन्द-अरुणोदय' में 'प्रेमघन' ने जिस एकता की ओर लक्ष्य करके हर्ष प्रकाशित किया है, वह उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट है—

आर्य वंश को करो एक अब द्वैत भेद बिनसाओ,
मन बच कर्म एक हो वेदविहित आदर्श दिखाओ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की कविता में भी हमें अधिकतर धार्मिकता की ही पुट देखने को मिलती है। वह भी भारत की दुरवस्था के प्रत्येक अंश को एक-एक करके गिनाने में अपने योग्य नेता भारतेन्दु के ही समान चतुर हैं। हाँ, संभवतः समय-भेद के कारण इनकी कविताओं में कहीं-कहीं राजनीतिक छाप उपर्युक्त दोनों कवियों से कुछ अधिक दीख पड़ती है, जैसे—

जहाँ कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं,
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैमहु नाहीं।

× × ×

जहँ महीप लगि रेजिडेंट सो यहि डर डरहीं,
अस न होय कहुँ तनक रूठि धन धामहि हरहीं।

× × ×

नित घेरे ही रहत दुसह दारिद दुचिताई।
यहि कर केवल हेतु यहै जो नए-नए नित,
कर अरु चंदा देन परैं प्रति प्रजहिं अपरमित।
कछू काम कोउ करै कहूँ ते कोऊ आवै,
कहुँ कछु घटना होय हिंद ही द्रव्य लगावै।
लेनहार सुख-दुःख आय-व्यय कबहुँ न पूछें,
देत-देत सब भाँति होहिं हम छिन-छिन छूंछें।

× × ×

चलत जितै कानून इहाँ, उनकी गति न्यारी,
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिनकहँ अधिकारी।
बड़े-बड़े बारिस्टर बहुधा बकि-बकि हारैं,
पै हाकिम जन जस जिय चाहैं तस करि डारैं।

× × ×

प्रजा न जानहिं कौन इकट केहि अर्थ बन्यो कब,
पै अचरज तेहि बंधन महँ नित कसे रहत सब।

× × ×

उदर हेत जे सिर बेंचत पलटन महँ जाहीं,
गोरे रंग बिनु ठीक आदरित वेऊ नाहीं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की ऐसी अन्य भी कुछ पंक्तियाँ हैं जिन में इन्होंने राष्ट्रीयता के भाव बहुत अंशों तक पूर्ण दिखलाए हैं। परंतु, फिरभी पंडित जी पक्के भारतीय होने के पहले पक्के हिंदू ही थे। यही दशा

उनके प्रिय मित्र पं० नाथूराम शंकर शर्मा की भी है। 'शंकर' कवि की कविता में जहाँ कहीं जातीयता के भाव आए हैं, वे एक हिंदू की ही दृष्टि से दर्शाए गए हैं। इसके सिवा शंकर जी एक पक्के समाज-सुधारक भी हैं। कट्टर हिंदूपन की गिरी दशा को देखकर उसके अनुयायिओं को लथाड़ने में वे बड़े ही सिद्धहस्त हैं। 'प्रेमघन' तथा 'शंकर' की कविताएं भारतेंदु-काल के अनंतर की भी लिखी हुई हैं, जिनमें समयानुसार थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य दिखलाई पड़ता है।

परन्तु हरिश्चंद्र तथा उनके अनुयायियों का अपने देश के प्राचीन गौरव में पूर्ण विश्वास होने के कारण उनकी कविताओं में देश-प्रेम संबंधी पंक्तियों के कहीं-कहीं बड़े ही उत्साहपूर्ण तथा सुंदर उद्‌गार दीख पड़ते हैं। हरिश्चन्द्र ने भारत दुर्दशा में प्राचीन भारतवासियों की प्रशंसा में एक स्थान पर कहलाया है—

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान,
करते अमृतोपम वेद-गान;
तब मोहित सब नर-नारि-वृंद;
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद।
× × ×
इनहीं के क्रोध किए प्रकास,
सब काँपत भूमंडल, अकास।
इनहीं के हुंकृति-शब्द घोर,
गिरि काँपत है सुनि चारु ओर।
जब लेत रहे कर में कृपान,
इनहीं कहँ हो जग तृन-समान।
सुनिकै रन बाजन खेत मांहि,
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं।

इसी प्रकार 'भारत-वंदना' शीर्षक कविता में 'प्रेमघन' जी कहते हैं—

जय जय भारत भूमि भवानी;
जाकी सुजस पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।
सब सुख-सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सुहानी;
जाकी सोभा लखि अलका अरु अमरावति खिसानी।
धर्म सूर जित उयो, नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी;
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सों सबहिं सुझानी।

× × ×

कालहु सम अरि तृन समझत जहं के क्षत्री अभिमानी;
बीर-बधू बुध-जननि रहीं लाखन नित सती सयानी।

× × ×

जाको अन्न खाय ऐंड़ति जग जाति अनेक अघानी;
जाकी संपति लुटति हजारन बरसनहूँ न खोटानी।

× × ×

प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोर युग पानी;
जिनमें झलक एकता की लखि जगमति सहम सेरानी।

परंतु पं० श्रीधर पाठक तथा इनकी इन्हीं भावों से भरी हुई कई प्रसिद्ध पंक्तियाँ वास्तव में भारतेंदु-काल के अनंतर की रचनाएं हैं। भारतेंदु-काल में प्रदर्शित किए गए राष्ट्रीय भावों की व्यापकता बहुत बड़ी कभी नहीं रही। पं० प्रतापनारायण मिश्र का तो यह महामंत्र ही था—

चहहु जो साचो निज कल्यान;
तौ सब मिलि भारत-संतान।
जपौ निरंतर एक जबान;
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान।

इन्होंने तथा 'प्रेमघन' जी ने हिंदी तथा गोरक्षा की महिमा से संबंध रखने वाली जितनी कविताएं की हैं, वे सब एकमात्र हिंदू के ही

नाते की हैं, भारतीयता की व्यापक दृष्टि से नहीं। ये भावनाएं भारतेंदु-काल के अनंतर भी बहुत दिनों तक रहीं। बाबू राधाकृष्ण दास तथा अन्य भारतेंदु-काल-प्रभावित कवियों के भी भावों में हमें केवल हिंदुत्व तथा आर्यत्व का ही आदर्श प्रतिपादित किया हुआ दीख पड़ता है। अंतर केवल यही है कि पहले के दुःख-रोदन तथा निष्क्रियता भरे गुण-गौरवगान इधर बहुत कम सुनने में आते हैं।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि यद्यपि परिस्थिति के अनुसार भावों की व्यापकता में उस समय कुछ भी कमी रह गई हो, किंतु हरिश्चंद्र तथा उनके समकालीन कवियों के हृदय अपने देश तथा समाज की दुर्दशा से पीड़ित अवश्य हो उठे थे। वे अपनी आँखों के सामने प्रतिदिन अनुभव में आनेवाली घटनाओं को देखकर तथा अपने प्राचीन गौरव और अन्य देशों की सामाजिक स्थिति से वर्तमान दशा की तुलना कर उसके प्रतिकार के लिए व्याकुल हो रहे थे। परंतु देश के लिए वह समय ऐसा था, जबकि सिवा ईश्वर और इंगलैंड की ओर आँख उठाने अथवा हाथ बढ़ाने के देशवासियों को कोई दूसरा उपाय ही नहीं दृष्टिगोचर होता था। इसी कारण कवि लोग बार-बार प्रार्थना कर चुप रह जाया करते थे। कोरी प्रार्थनाएँ बहुधा निष्फल जाती हैं और अंत में सवाल पूरा न हो सकने के कारण फ़क़ीर की मायूसी दिन-दिन बढ़ने लगती है। हमारे उन कवियों को भी सिवा निराशा के उस समय कुछ भी हाथ न लगता था। कवि तो आखिर कवि ही ठहरे। हमारी एकमात्र राष्ट्रीय सभा काँग्रेस तक जो भारतेंदु के अस्त होते ही संगठित हुई थी, बहुत दिनों तक अपना दृष्टिकोण इसी के अनुसार निश्चित कर प्रस्तावों का पुलिंदा भेजती रही।

परन्तु उन कवियों का देशानुराग वास्तव में सच्चा था। अपनी-अपनी समझ के अनुसार उन्होंने सब कुछ होते हुए भी आशा की कुछ क्षीण किरणों से प्रेरित होकर अपने प्राचीन हिंदू-आदर्शों को एक बार फिर लौटाने, देश भर को एक भाषा के सूत्र में बाँधने तथा अपने

समाज में अच्छे-अच्छे भावों के प्रचार द्वारा सुधार करने आदि, अनेकानेक साधनों को अपनाकर उन्हें अपनाने के लिए देशवासियों को उपदेश देना आरंभ कर दिया था। अतएव भौगोलिक, ऐतिहासिक, भाषा-संबंधी तथा कुछ अंशों तक समाजिक एकता का राग अलापने, पूर्व-गौरव तथा शक्ति का गान गाकर, वर्तमान दुर्दशा को देखकर दुःखमयी समवेदना प्रकट करने तथा उत्सवादि के समय हर्षोल्लास दिखलाने, अपनी तथा पराई वस्तुओं में कभी-कभी भेद प्रकट करने, तथा देश के लिए ईश्वर से मंगल-कामना प्रदर्शित करने से संबंध रखनेवाली इनकी कविताएँ वास्तव में जातीयता से भरी हैं। कमी इनमें केवल इसी बात की है कि वे देश की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार भारत के भविष्य के लिए कोई उद्देश्य नहीं निश्चित करते और न इसकी सामाजिक एकता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का स्पष्ट आदर्श दिखलाते हुए देश-बंधुओं को अग्रसर करने के लिए आह्वान ही करते हैं। आत्मत्याग तथा विजय का बिगुल बजाकर देश की नस-नस में कर्मण्यता का रक्तसंचार करने का कार्य इनमें से एक भी नहीं कर पाया।

परिशिष्ट

'चंड कौशिक' और 'सत्य हरिश्चंद्र'

'सत्यहरिश्चंद्र' नाटक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें, बाबूसाहब के ही शब्दों में 'सूर्यकुल संभूत राजा हरिश्चंद्र की कथा है' और, 'सत्य पथ पर चलने वाले कितना कष्ट झेलते हैं, यही इसमें दिखाया है'। यह नाटक सं० १६३२ में बना था और 'काशी पत्रिका' के प्रथम और द्वितीय भाग के बारह अंकों में प्रकाशित हुआ था। तब से आजतक यह कईबार पुस्तकाकार छपा और अनेक बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर खेला भी गया। अन्य लोगों को पसंद होने के साथ ही यह स्वयं भारतेंदु को भी बहुत प्रिय था। इसके नायक को वे अपना आदर्श बतलाते थे और इसकी कथा को भारतीय पूर्वजों के उन चरित्रों में से समझते थे जिन पर प्रत्येक भारत-वासी को गर्व करना चाहिए। राजा हरिश्चंद्र का आख्यान बहुत लोकप्रिय विषय रहा है और इसी कारण, पौराणिक काल से लेकर आजतक न जाने कितने ग्रंथ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं। संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती जैसी भाषाओं के आधुनिक कवियों तक ने इस पर अनूठे उपाख्यानों की रचना की है और ऐसी दशा में इस विषय पर किसी मौलिक नाटक का लिखना कठिन है। साहित्यिक मौलिकता के लिए कल्पना की स्वतंत्रता परमावश्यक होती है और सामग्री के अधिक रहते हुए उसे बनाये रखना साधारण काम नहीं है। 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक को बाबू हरिश्चंद्र की मौलिक रचनाओं में केवल इस दृष्टि से भी गिनना उचित नहीं कहा जा सकता। परंतु इसकी मौलिकता में उस समय और भी संदेह होने लगता है जब हम

इसकी तुलना संस्कृत में लिखे गए 'चंड कौशिक' नाटक से करते हैं। दोनों की पारस्परिक तुलना से ऐसा जान पड़ता है कि 'सत्य हरिश्चंद्र' में 'चंड कौशिक' के कुछ अंश ज्यों के त्यों उद्धृत हैं, कुछ इधर-उधर कर दिये गए हैं, कई स्थलों पर उसके भाव दूसरे प्रकार से रख दिये गए हैं और बहुत से स्थल अक्षरशः अनुवाद करके ही भर दिये गए हैं।

'चंड कौशिक' के रचयिता आर्य क्षेमेश्वर हैं, जो विक्रम की ११वीं शताब्दी में वर्तमान कन्नौज के राजा महिपालदेव के आश्रित थे। उन्होंने इसे राजा हरिश्चंद्र के आख्यान के ही आधार पर पाँच अंकों में लिखा है। इसका उपर्युक्त नामकरण उन्होंने कदाचित् इस अभिप्राय से किया है कि इसके कथानक का पूरा विस्तार महर्षि विश्वामित्र के प्रचंड कोप के आधार पर हुआ है। 'चंड कौशिक' नाटक के अस्तित्व के विषय में स्वयं भारतेंदु ने भी अपने 'सत्य हरिश्चंद्र' की भूमिका में संकेत किया है।[१] किंतु वहाँ पर उन्होंने यह नहीं लिखा है कि वे अपने को उसके रचयिता का आभारी भी होना स्वीकार करते हैं वा नहीं।

'चंड कौशिक' की कथा वा सारांश इस प्रकार है :—महाराज हरिश्चंद्र के आचार्य ने कतिपय विघ्नों की शांति के लिए, उन्हें नियम-पालन की अनुमति दी जिसकारण उन्हें रात भर जागना पड़ा। प्रातःकाल महारानी शैव्या उनकी आलस्यभरी आँखें देखकर उन पर कुपित हुई, किंतु तापस के शांति-जल लाने पर जागरण का रहस्य समझ उनसे क्षमायाचना करने लगीं। उधर महाराज विघ्नों के भय से व्याकुल होकर मनोविनोद की इच्छा से सुअर का आखेट करने वन की ओर निकल पड़े। वन में महर्षि विश्वामित्र तीनों विद्याओं को वश में करने के लिए आश्रम में बैठकर यज्ञ कर रहे थे जहाँ विघ्नराट् उसमें विघ्न डालना चाहता था, संयोगवश महाराज हरिश्चंद्र उसका एक साधन

१. 'भारतेंदु नाटकावली' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग), पृष्ठ २९७।

बन गए और स्त्री-रूपधारिणी विद्याओं का आर्त्तनाद सुनकर उन्हें बचाने दौड़े। अभीतक महर्षि विश्वामित्र को पहचान नहीं सके थे, इस कारण उनके क्रुद्ध होते ही क्षत्रियधर्म की दुहाई देकर नतमस्तक हो गए। इस पर महर्षि विश्वामित्र ने उनसे दान मांगा और महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया तथा उसकी दक्षिणा में एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा देने के उपलक्ष में अपने को काशी जाकर बेंचना निश्चित किया। काशी में उन्होंने रोहिताश्व के साथ शैव्या को आधे मूल्य में बेंचा और शेष आधे के लिए अपने को भी एक श्वपच के हाथ बेंच डाला। परंतु जब ये अपना कर्तव्य-पालन करते समय श्मशान घाट पर टहल रहे थे उसी समय सर्प के काटने से मृत रोहिताश्व का शव लेकर शैव्या वहां पर पहुँच गई। उसकी दशा देखकर उसे पहचाने बिना भी हरिश्चंद्र व्याकुल हो उठे। किंतु पहचानकर भी फिर उन्होंने उससे आधा कफ़न मांगा। उनकी इन सत्यनिष्ठा से धर्मदेव अत्यंत प्रसन्न हुए और सारे कष्टों का कारण सत्य की परीक्षा को बतलाते हुए उन्होंने रोहिताश्व को फिर से जिला दिया तथा उसे राज्य भी दे दिया जिस पर देवों ने मंगल-गान किया।

'सत्य हरिश्चंद्र' की कथा इस प्रकार है:—इंद्र की सभा में अयोध्या से लौटते समय देवर्षि नारद पहुँचे और उनसे महाराजा हरिश्चन्द्र के अकृत्रिम स्वभाव तथा सत्यप्रियता की प्रशंसा की। इस पर इंद्र के हृदय में द्वेष एवं भय का संचार हो आया। उन्होंने देवर्षि नारद से बातचीत कर हरिश्चंद्र के सत्य की परीक्षा करनी चाही और उसके कुछ ही अनंतर वहाँ पर महर्षि विश्वामित्र के आ जाने पर उनसे हरिश्चंद्र को सत्य से डिगाने की प्रतिज्ञा करा ली। उधर महाराज हरिश्चंद्र एवं शैव्या ने बड़े बड़े दुःस्वप्न देखे। महाराज ने देखा कि मैंने तीनों विद्याओं को साधने के लिए उन्हें खींच लाने वाले किसी क्रोधी ब्राह्मण को स्त्रियों की रक्षा के लिए की जाने वाली अपनी चेष्टाओं द्वारा रुष्ट कर दिया है और उसे संतुष्ट करने के लिए मुझे अपना सारा राज्य दे देना

पड़ा है। रानी ने इसी प्रकार स्वप्न में देखा कि राजा ने अपने सारे अंग में भस्म लगा लिया है, मैंने अपने बाल खोल रखे हैं और रोहिताश्व को सर्प ने काट दिया है। इन स्वप्नों की शांति हो ही रही थी और महाराज इस चिंता में थे कि स्वप्न में जिस ब्राह्मण को दान दिया है वह मिल जाय तो उसे अपना सब कुछ सौंप दूँ तबतक महर्षि विश्वामित्र वहां पर आ पहुँचे और अपने को ही स्वप्नवाला ब्राह्मण बतलाकर उनसे महादान की दक्षिणा माँगने लगे। महाराज को इसके निमित्त तीनों लोक से न्यारी काशी में जाकर, दक्षिणा के आधे अंश के लिए, अपनी स्त्री को एक ब्राह्मण के हाथ बेंचना पड़ा और शेष आधे के लिए उन्होंने स्वयं अपने को भी एक श्वपच के हाथ बेंच डाला। इस प्रकार श्वपच का क्रीतदास होकर जब वे श्मशान घाट पर टहल रहे थे कि सर्प के काटने से मृत रोहिताश्व का मृत शरीर लेकर शैब्या उसे जलाने आई। उसे देखकर महाराजा हरिश्चंद्र बिना पहचाने ही व्याकुल हो उठे और अंत में, उसे पहचानकर भी उन्हें अपने कर्त्तव्यानुसार आधा कफ़न मांगना पड़ा। यह सत्यनिष्ठा देखकर फिर वहाँ स्वयं भगवान आ पहुँचे। रोहिताश्व जी उठा और देवों ने आकर महाराज की प्रशंसा की।

उपर्युक्त बातों के देखने से जान पड़ता है कि दोनों नाटकों के कथानक प्रायः समान हैं; केवल आरंभ और अंत में कुछ अंतर है। 'सत्य हरिश्चंद्र' की नयी बातों में इंद्रसभा, उसमें की गई बात चीत, तथा राजा एवं रानी की स्वप्न संबंधी बातें मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धियों का लालच दिखलाना, महाराज हरिश्चंद्र को सावधान करना, उनका फांसी लगाने को उद्यत होना, शिव आदि देवताओं का आना और दो एक अन्य वर्णन भी गिनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'चंड-कौशिक' की नयी बातों में विदूषक तथा राजा एवं रानी की बात चीत; विघ्नराट् का वाराह-रूप धारण करना महर्षि विश्वामित्र की तपश्चर्या, दो चांडालों का राजा हरिश्चंद्र को श्मशान घाट तक ले जाना, मृत-

वस्था की सूचना तथा रोहिताश्व का अभिषेक आदि कहे जा सकते हैं। आवश्यकतानुसार दोनों नाटकों में कतिपय नये-नये पात्रों का समावेश भी करना पड़ा है और कहीं-कहीं 'सत्य हरिश्चंद्र' में 'चंड कौशिक' के कुछ पात्रों के केवल नाममात्र ही बदलने पड़े हैं। उदाहरण के लिए चारुमतिका के स्थान पर सहेली, भृंगी की जगह पर भैरव, तापस के लिए ब्राह्मण तथा धर्म के स्थान पर भगवान का समावेश कर दिया गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की नवीनता केवल इसी प्रकार की बातों में दिखलायी जा सकती है जिनसे कथानक के विकास की समानता वा एकता में, वस्तुतः कोई बाधा नहीं पड़ती। आर्य क्षेमेश्वर तथा भारतेन्दु दोनों ने विश्वामित्र एवं महाराज की बातचीत के आरंभ होने से लेकर प्रायः अंततक कथानक का रूप लगभग एक ही सा रखा है जिसकारण 'सत्य हरिश्चन्द्र' के द्वितीय अंक का अंतिम अंश, पूरा तृतीय अंक और थोड़े से अंतिम अंश को छोड़कर उसका पूरा चौथा अंक भी क्रमशः 'चंड कौशिक' के द्वितीय अंक के अंतिम भाग, पूरे तृतीय अंक, पूरे चौथे अंक तथा थोड़े से अंतिम अंश को छोड़कर पूरे पाँचवें अंक के समान लगते हैं; केवल कुछ ही स्थलों पर छोटे-मोटे परिवर्त्तन दीख पड़ेंगे। आरंभ की असमानताओं के विषय में भी कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने 'चंड कौशिक' के विघ्नराट् की छाया पर ही अपने यहाँ प्रसिद्ध पौराणिक ऋषी इंद्र की रचना की है तथा उसमें प्रदर्शित विद्याओं वाली घटना को ही, राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-प्रियता को अधिक महत्त्व प्रदान करने की इच्छा से स्वप्न के रूप में अवतरित कर दिया है।

दोनों कवियों के चरित्र-चित्रण में भी विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता दोनों नाटकों के नायक हरिश्चन्द्र में कर्त्तव्यज्ञान, धर्मरक्षा, आत्मसम्मान, उदारता, सत्यनिष्ठा तथा ब्राह्मण-भय के लक्षण लगभग एक समान दिखलायी देते हैं। 'चंड कौशिक' के हरिश्चन्द्र में केवल कुछ अधिक पत्नी-प्रेम तथा क्षत्रियत्व की विशेषताएँ आ जाती हैं और वह

मूर्छित भी हो जाया करता है। इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' का हरिश्चन्द्र कुछ अधिक वंशाभिमान रखता है तथा भाग्य पर अधिक भरोसा रखने वाला जान पड़ता है दोनों नाटकों का विश्वामित्र क्रूर, आत्मप्रशंसक एवं परमक्रोधी है। किंतु 'चंड कौशिक' का यह पात्र जहाँ कुछ अधिक शक्तिशाली है वहाँ 'सत्य हरिश्चन्द्र' कुछ अधिक बनावटी सा प्रतीत होता है। शैव्या दोनों ही नाटकों में एक सीधी-सादी और पति भक्ता हिंदू महिला है, फिरभी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वह वंश-मर्यादा को रखती हुई भी 'चंड कौशिक' की नायिका के समान कुलवती नहीं जान पड़ती। दोनों नाटकों के अंतर्गत ये ही तीन पात्र मुख्य कहे जा सकते हैं और उपर्युक्त साधारण विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक समान हैं। पौराणिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में अधिक अंतर लाने की गुंजायश भी बहुत कम होती है।

'सत्य हरिश्चंद्र' में 'चंड कौशिक' के जिन अंशों को ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया गया है उनमें से कुछ श्लोक हैं जो इसके काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सन् १९१७ ई० वाले संस्करण के १६, २०, ३६, ४४ तथा ६६ संख्यक पृष्ठों पर दिये गए हैं, कवि ने इनका हिंदी अनुवाद तक नहीं कर दिया है। जो अंश इधर के उधर किये गए हैं उनके उदाहरण उल्लिखित कथाभाग में मिलते हैं, जैसे विद्याओं की घटना को स्वप्न रूप देना, विघ्नराट् की चेष्टाओं को इंद्र के कार्यों द्वारा सिद्ध कर दिखाना आदि। 'सत्य हरिश्चंद्र' के तीसरे अंक के अंकावतार में पहलेपहल (इधर-उधर दौड़ता और हांफता हुआ) पाप आता है जो 'चंड कौशिक' के तीसरे अंक में आने वाले बीभत्स वेशधारी पाप-पुरुष के ही भावों को दूसरे शब्दों में व्यक्त करता है और "मरे रे मरे !" से लेकर "यहां आया कि गति भई" तक कह डालता है[1] जिसमें कुछ पिछली कथाओं के अंश एवं काशी नगरी के वर्णन के अतिरिक्त

---

१. 'भारतेंदु नाटकावली', (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग) पृष्ठ ४३२-३३।

और कुछ भी नहीं है। इस नाटक का प्रसिद्ध दोहा—

बेंचि देह दारा सुअन, होइ दासहू मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद ॥[१]

इस श्लोक की व्याख्या है। (यद्यपि दोहा अधिक भाव पूर्ण है)—

आत्मान मेत्र विक्रीय, सत्यं रक्षामि शाश्वतम्।
यस्मिन्न रक्षिते नूनं लोक द्वयम रक्षितम् ॥ (पृष्ठ ६४)[२]

इसी प्रकार,

"हरिश्चंद्र—(पैरों पर गिरकर) भगवन्! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजिएगा। मैं अभी अपने को बेंच कर मुद्रा ले आता हूँ।"[३]

नीचे दिये गए श्लोक के स्थान पर लिखा गया है,

"राजा—(ससंभ्रमं पादयोर्निपत्य) भगवन्! प्रसीद, प्रसीद, मर्षय मर्षय।

अस्तं खाव सम्प्राप्ते, यदि नाप्नोति दक्षिणाम्।
शापार्हों वा बधार्हों वा, स्वाधीनोऽयं जनस्तव ॥" (पृष्ठ ६८)

फिर,

"हरिश्चंद्र—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।"[४] इस पंक्ति के भाव को प्रकट करता है,

"राजा—(सविशेष करुणम्) अहो! मर्मस्पृशि परिदेवितानि।"

---

१. वही, पृष्ठ ४३१।

२. 'चंड कौशिक' नाटक की पृष्ठ संख्या पं० जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित तथा सन् १८८४ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित प्रति के अनुसार है। वही आगे भी दी जायगी। लेखक।

३. 'भारतेंदु नाटकावली' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग), पृष्ठ ४४०।

४. वही, पृष्ठ ४७८।

तथा,

"हरिश्चंद्र—"......। भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा !"[1]

इस निम्नलिखित श्लोक के आधार पर कहा गया प्रतीत होता है,

"मरणात् निवृत्तिं मात्रे धन्याः स्वाधीनवृत्तयः ।
आत्मविक्रयिणः पापाः, प्राणत्यागेऽप्यनीश्वराः ॥ (पृष्ठ १२६) ।

और,

"खलगनन सों सज्जन दुखी मत होईं, हरिपद रति रहै ।
उपधर्म छूटैं, सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै ॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर समहोहिं, सब जग सुख लहै ।
तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै ॥"[2]

इस श्लोक को देखकर लिखा गया है,

"प्रमुदित सुजना समृद्धशस्या, भवतु मही विजयी च भूमिपालः ।
कविभि रुपहिता निजप्रबंधे, गुणकणिकात्वनुगृह्यतां गुणज्ञै ।" (पृष्ठ १३७)

अब इसके आगे हम यहाँ पर कुछ ऐसी पंक्तियों को भी 'चंडकौशिक' से उद्धृत कर देना चाहते हैं जिनमें भारतेन्दु द्वारा किये गए अक्षरशः अनुवाद के उदाहरण मिल सकते हैं, जैसे—

चंड कौशिक

"भृ०—यस्याद्भुतं कथयतश्चरितं भवस्य,
रोमाञ्चभिन्नकण भस्म घनाङ्ग यष्टेः ।
व्यावल्गितभ्रुनयनत्रयमाविरासीत,
वेल्लच्छ शाङ्क शकलश्चपत्नश्चमौलिः ॥" (पृष्ठ ६०) ।

---

१. वही, पृष्ठ ४८१ ।
२. वही, पृष्ठ ४६० ।

सत्य हरिश्चन्द्र

"भै०—.....आज जब भूतनाथ राजा हरिश्चन्द्र का वृत्तांत भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गए और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग-अलग होगए।[1]

× × ×

चंड कौशिक

रा०—(आत्मानं संस्तभ्य प्रकाशम्) प्रिये !

आराध्योऽयं ब्राह्मणस्ते सशिष्यः,
पत्नी चास्य प्रीतिदायोपचार्या।
रक्ष्याः प्राणः बालकः पालनीयः,
यद्यद्दैवं शास्ति तत्तद्विधेयम्॥ (पृष्ठ ७८)।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"हरिश्चन्द्र—(धैर्य से) देवी, उपाध्यायकी आराधना भलीभाँति करना और इनके सब शिष्यों से भी सुहृद् भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासंभव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना।[2]

× × ×

चंड कौशिक

कौ०—धिङ् मूर्ख ! स्वयं दासास्तपस्विनः, तत् किं त्वया दासेन क्रियते।
रा०—सानुनयम्। भगवन् ! यदादिशसि तत् करिष्ये।
कौ०—शृण्वन्तु शृण्वन्तु विश्वेदेवाः। यदादिशामि तत् करिष्यसि ?

---

१. भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग) पृष्ठ ४३४।
२. वही, पृ० ४४७।

रा०—वाढम्, करोमि ।

कौ०—यद्येवमस्मिन्ने वार्थिनि विक्रीयात्मानं प्रयच्छ मे दक्षिणा सुवर्णानि ।" (पृ० ८५-६) ।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"विश्वामित्र—छिः मूर्ख ! भला हम दास लेकर क्या करेंगे ?
"स्वयं दासास्तपस्विनः" ।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजियेगा हम सब करेंगे ।

वि०—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा ।

हरि०—हाँ-हाँ, जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा ।

विश्वा०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेंचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे ।"[1]

× × ×

चंड कौशिक

रा०—भैक्ष्याशी दूरतस्तिष्ठन्,
रथ्याम्बर परिच्छदः ।
यद्यदादिशति स्वामी,
तत्करोम्यवि चारितम् ॥" (पृ० ८६) ।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"हरि०—

भीख असन कंबल बसन, रखिहै दूर निवास ।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहै सब ह्वै दास ॥[2]

---

१. 'भारतेन्दु नाटकावली' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग), ४५२ ।
२. वही, पृष्ठ ४५२ ।

चंड कौशिक

"रा०—(दृष्ट्वा साश्चर्यमात्मगतम्)

कथमिमास्ता भगवत्यो विद्याः

यासु भगवतो विश्वामित्रस्यापि

तीव्रै स्तपोभिर वसन्नम् । (प्रकाशम्)

अंजलिं बद्धा) नमस्त्रिलोक विजयिनीभ्यो विद्याभ्यः ।

विद्याः—राजन् त्वादायत्ता वयं । अतस्त्वं शाधिनः ।

रा०—यदि मामनुग्राह्यं भवत्योऽनुमन्यते, ततो भगवन्तं कौशिकं उपतिष्ठध्वं ततोनुगराद्धं मुनेरात्मानं समर्थयामि ।

विद्याः—(सविस्मयं परस्पर मवलोक्य) राजन् एवमस्तु । (इति निष्क्रान्ताः) ।

(पृष्ठ ११०-११)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"हरि०—(आपही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पत्ति पालन और नाश करने वाली महाविद्या हैं जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रकट हाथ जोड़कर) त्रिलोक विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है ।

महाविद्या—महाराज, हम लोग तो आपके वश में हैं। हमारा ग्रहण कीजिए ।

हरि० – देवियो, यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्तिनी हो। उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है ।

महाविद्या—धन्य महाराज ! धन्य ! जो आज्ञा । (जाती हैं)"[1]

× × ×

---

१. वही, पृष्ठ ४६६ ।

चंड कौशिक

"कापा०—(साश्चर्य मात्मगम्)
अहो धैर्यम् । अहोज्ञानम् ।
अहो महानुभावता च ।

अथवा—

चलन्ति गिरयः कामं,
युगान्तः पवनाहताः ।
कृच्छ्रेऽपिन चलत्येव,
धीराणां निश्चलं मनः ॥
तन्ममापि किमति निर्बंधेन
(प्रकाशं वेतालं प्रति) भद्र,
गम्यताम्, क्रियतामस्य राज्ञः समीहितम् ।

बैतालः—(सप्रणामम्) जं
साधओ अणवेदि । (इति निष्क्रान्तः)

कापा०—भो राजन् प्रभात प्राया वर्तते विभावरी ।
तत् साधयिष्यामस्तावत् ।

राजा—भो साधक ! स्मर्त्तव्या वयं दुःखितकथासु ।

कापा०—राजन् ! देवतास्त्वां स्मरिष्यन्ति । (इति निष्क्रान्तः)"

(पृ० ११२१-३)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"धर्म – (आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चंद्र ! धन्य तुम्हारा धैर्य ! धन्य तुम्हारा विवेक और धन्य तुम्हारी महानुभावता !

या—

चलै मेरु बरु प्रलय जल, पवन झकोरन पाय !
पै वीरन के मन कबहुँ, चलहिं नहीं ललचाय ।

तो हमें भी इसमें कौन हठ है ?

(प्रत्यक्ष) बैताल ! जाओ, जो महाराज की आज्ञा है वह करो।

बैताल—जो रावल जी की आज्ञा। (जाता है)

धर्म—महाराज ! ब्राह्ममुहूर्त निकट आया, अब हमको भी आज्ञा हो।

हरिश्चंद्र—जोगिराज ! हमको न भूलिएगा, कभी-कभी स्मरण कीजिएगा।

धर्म—महाराज ! बड़े-बड़े देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे, मैं क्या कहूँ। (जाता है)।[1]

× × ×

चंड कौशिक

"राजा—हा वत्स रोहिताश्व !

धात्री जनांक शत दुर्ललितः कथंन,
भूमं चिरं लुटसि वत्स विरूद्धनिद्रः।
त्वामद्य पार्थिव शतैरभिनन्दिनाज्ञ,
माज्ञापयन्ति वटवः श्रुतदुर्गरूढाः ।। (पृष्ठ १७१६)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

हरि०—हा, वत्स रोहिताश्व !......

जेहि सहसन परिचारिका,
राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूरि में;
दास बालकन साथ।

---

१. 'भारतेंदु नाटकावली' (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग) पृष्ठ ४७०-७१।

जाकी आयसु जग नृपति,
सुनतहि धारत सीस।
तेहि द्विज नटु आशा करत,
अहह कठिन अति ईस॥[1]

इन जैसे अवतरणों से भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि 'सत्य हरिश्चंद्र' के रचयिता ने 'चंड कौशिक' के अनेक स्थलों का अनुवाद किस प्रकार किया है तथा किस प्रकार उनमें कभी-कभी न्यूनाधिक सुधार तक किया है। ऐसे अन्य स्थल भी दिये जा सकते हैं। 'सत्य हरिश्चंद्र' के द्वितीय अंक के बहुत से अंशों और उसके संपूर्ण तृतीय तथा चतुर्थ अंकों को पढ़ते ही समझमें आ जाता है कि इसकी रचना 'चंड कौशिक' नाटक को देखकर अवश्य हुई होगी। दोनों को एक साथ मिलाने पर तो कुछ भी संदेह नहीं रह जाता। हिंदी नाटक का अधिकांश संस्कृत नाटक को सामने रखकर लिखा गया है। फिरभी यह 'मुद्राराक्षस' के समान अनुवाद ग्रंथ नहीं है, 'सत्य हरिश्चंद्र' का कुछ अपना निजी महत्त्व है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र किसी ग्रंथ का अनुवाद करने अथवा उसके आधार पर लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे जिसकारण उनकी अमौलिक रचनाओं में भी एक प्रकार का चमत्कार आ जाता था। 'चंड कौशिक' के जिन स्थलों को उन्होंने छोड़ दिया है वे अधिक उपयोगी नहीं थे। विदूषक और महाराज तथा रानी और चारुमति का की बातचीत, बनेचर द्वारा सुअर की प्रशंसा, राजा तथा सूत के द्वारा आश्रम का वर्णन, दो चांडालों का हरिश्चंद्र का पथ प्रदर्शक बनना, मृतवत्सा के आने की सूचना, हरिश्चंद्र की बार-बार आने वाली मूर्च्छा तथा अभिषेक के प्रबंधादि कुछ ऐसी बातें हैं जो भारतेंदु के दृष्टिकोण से निरर्थक जान पड़ती है। प्रत्युत इंद्र-सभा की कुछ बातों की समाविष्ट कर लेने तथा महाविद्या की कथा को स्वप्न में परिणत कर देने से 'सत्य हरिश्चंद्र' अधिक रोचक और सुसंगत

---

१. वही, पृष्ठ ४७३।

बन गया है। संस्कृत वाले नाटक में शिथिलता बहुत है, किंतु हिंदीवाले में दो एक लंबे-लंबे वर्णनों को छोड़कर यह अवगुण बहुत कम देखने को मिलेगा। पहले का अभिप्राय 'ब्राह्मण के क्रोध का प्रभाव' सिद्ध करना जान पड़ता है जहाँ दूसरे का उद्देश्य 'सत्य की टेक' निभाना है। अतएव, प्रसिद्ध पौराणिक राजा हरिश्चंद्र के आख्यान द्वारा उपदेश ग्रहण करने की दृष्टि से 'चंड कौशिक' से 'सत्य हरिश्चंद्र' कहीं अच्छा साधन है।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.